विचार और विमर्श

(हिन्दी के विचारात्मक निबन्धों का अभिनव संग्रह)

सम्पादक

रघुनन्दन शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.

पंजाब यूनिवर्सिटी

आमुख

पंजाब यूनिवर्सिटी ने सितम्बर १६४८ में 'पब्लिकेशन ब्यूरो' (प्रकाशन विभाग) नामक एक नई शाखा इस उद्देश्य से स्थापित की कि हिन्दी और पंजाबी भाषाओं के साहित्यों को सम्पन्न तथा समृद्धिशाली बनाने में यूनिवर्सिटी भी समुचित योग दे सके। अतएव ज्ञान, विज्ञान तथा साहित्य सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों की रचना, अन्यान्य भाषाओं की इस प्रकार की उत्तमोत्तम पुस्तकों के अनुवाद तथा छात्रगणों की शिक्षा के लिए इन विषयों की पुस्तकों का निर्माण अथवा उनका प्रामाणिक रूप में संकलन एवं संशोधन करके सम्पादन—इन सभी विधियों द्वारा उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने का यत्न किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'विचार और विमर्श' में हिन्दी के कुछ विचारात्मक निबन्धों का संकलन किया गया है जिनसे पाठकों को आजकल के नये विषयों की विश्वसनीय जानकारी के साथ-साथ मनन और चिन्तन की भी यथेष्ट सामग्री मिलेगी। प्रारम्भ में निबन्ध की परिभाषा और हिन्दी के निबन्ध-साहित्य की रूप-रेखा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और अन्त में लेखों और लेखकों की संक्षिप्त आलोचना दी गई है। आशा है पाठकवर्ग इनसे समुचित लाभ उठाएँगे।

'यूनिवर्सिटी प्रकाशन विभाग' की ओर से संपादक और मुद्रक के प्रति सन्तोष प्रकट करता हुआ मैं इस पुस्तक में संकलित सभी लेखकों अथवा उनके उत्तराधिकारियों एवं प्रकाशकों का भी कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूं। अपने लेखों को संगृहीत करने की अनुमति देकर उन्होंने न केवल अपने सौजन्य का परिचय दिया है, अपितु इस प्रान्त के विद्यार्थीमंडल को भी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की सुन्दर रचनाओं के अनुशीलन करने का सौभाग्य प्रदान किया है।

इस पुस्तक को दोष तथा त्रुटि रहित बनाने का यथासंभव पूर्ण यत्न किया गया है। तथापि नितान्त निर्दोषता असंभव है। पाठक-पाठिकाओं से प्रार्थना है कि यदि उन्हें कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो वे कृपया मुझे सूचित करें जिससे अगले संस्करण में उसका उचित संशोधन किया जा सके।

शिमला
जनवरी १५, १९५१

जगद्विहारी सेठ
सेक्रेटरी,
यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो

लेख-तालिका

प्राक्कथन

माया और कल्पना के संसार से दूर परे, जीवन की ठोस समस्याओं पर गम्भीर मनन एवं सूक्ष्म चिन्तन की प्रेरणा देना और पाठक की ज्ञानराशि में यथेष्ट वृद्धि करके उस के दृष्टिकोण को उदार एवं विस्तृत बनाना निबन्ध का प्रधान उद्देश्य है। प्रस्तुत संग्रह इसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर तैयार किया गया है। इस में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से लेकर आज तक के सिद्धहस्त लेखकों के निबन्धों का समाहार है। यत्न किया गया है कि अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ विद्वानों के लेख ही गृहीत किये यँ जिन में प्रतिपादित विषय की मार्मिकता और विचारों की प्रामाणिकता के दोनों गुण विद्यमान हों।

चुनाव में विषयों की विविधता और उपादेयता का पूरा ध्यान रक्खा गया है। विभिन्न दृष्टिकोणों, विभिन्न शास्त्रीय विषयों और विभिन्न भाषा-शैलियों के प्रतिनिधित्व की भी पूरी चेष्टा की गई है। मानवीय ज्ञान की अनेकरूप शाखाओं एवं आधुनिक विषयों के तात्विक लेखों के समाहार के साथ-साथ 'साहित्यिक लक्ष्य' को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया गया। भाषा और भावों के क्रमिक विकास के अध्ययन में ऐतिहासिक पर्यालोक की सुकरता के लिए लेखों का संकलन कालक्रम के अनुसार किया गया है।

प्रारम्भ में 'निबन्ध' तथा 'हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के विकास तथा प्रगति' के सम्बन्ध में आवश्यक और अपेक्षित जानकारी दी गई है और अन्त में लेखों एवं लेखकों के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की गई है। आशा है हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी इन से यथेष्ट लाभ उठाएगे।

पंजाब यूनिवर्सिटी प्रकाशन विभाग, —रघुनन्दन
शिमला

निबन्ध के सम्बन्ध में

(१) निबन्ध की परिभाषा और उसके मूल-तत्त्व

'निबन्ध' शब्द का अर्थ है—'बाँधना', 'शृङ्खलाबद्ध करना', या 'तरतीब में रखना'; अर्थात् किसी निर्दिष्ट विषय की ज्ञातव्य बातों को शृङ्खला या व्यवस्थित क्रम में बाँधना। निबन्ध में किसी विषय के दोनों पहलुओं—पूर्वापर पक्षों—का विवेचन, अथवा किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना अथवा अवस्था के गुण-दोषों—लाभालाभों--का सन्तुलन करके लेखक की व्यक्तिगत अभिरुचियों के अनुसार व्यवस्था देने की चेष्टा की जाती है।* इस आधार पर निबन्ध का व्यापक लक्षण यही किया जा सकता है कि 'निबन्ध उस साहित्यिक रचना का नाम है जिसमें किसी निर्दिष्ट विषय या उसके किसी विशेष अंग के अपेक्षित एवं ज्ञातव्य अंश का व्यवस्थित क्रम एवं परिमित विस्तार में प्रतिपादन किया गया हो'। इस परिभाषा के अनुसार निबन्ध में निम्नलिखित पांच बातें होनी चाहिएँ—

(१) एक निर्दिष्ट विषय,
(२) ज्ञानवर्धकता,
(३) शृंखला या व्यवस्थित क्रम,

---

* निबन्ध के लिए अंग्रेजी का शब्द है 'एस्से' (Essay)। फ्रैंच में इसे 'एसॉइ' (Essai) कहते हैं। ये दोनों शब्द मूल लैटिन 'एक्सेजिअम' (Exagium) से निकले हैं। इस मूल लैटिन शब्द का अर्थ 'यत्न'—किसी विषय अथवा समस्या के परिज्ञान का अथवा उसके लाभालाभ गुण-दोष आदि के 'सन्तुलन' का यत्न—करना है। इस प्रकार निबन्ध की परिभाषा में हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रैंच और लैटिन भाषाओं के साहित्य में प्रायः समान ही मूल-धारणा काम करती हुई दिखाई देती है।

(४) अनतिदीर्घ विस्तार, और

(५) साहित्यिक रचना-शैली ।

यही पांच निबन्ध के 'अवयव' कहे जाते हैं । इनके बिना निबन्ध यथार्थ में निबन्ध न कहा जाकर 'उच्छृंखल प्रलाप' माना जाता है । यदि किसी निबन्ध का एक निर्दिष्ट विषय न हो, अथवा लेखक अप्रासंगिक विषयान्तर में चला जाय, तो वह रचना निबन्ध-कोटि में नहीं गिनी जाती । इसी प्रकार निबन्ध के पढ़ने से यदि ज्ञान-वृद्धि न हो, पाठक को उस विषय के सम्बन्ध में कोई नई जानकारी प्राप्त न हो अथवा कुछ भी स्पष्टतया समझ न आवे, तो उस रचना को भी निबन्ध नहीं कहा जायगा । विषय के प्रतिपादन—विवेचन अथवा सन्तुलन—में यदि शृंखला या व्यवस्थित क्रम का अभाव हो, तो भी उसे निबन्ध नहीं माना जाता—उसे 'असम्बद्ध' अथवा 'निरर्गल' रचना चाहे कह लें । यदि प्रतिपाद्य विषय का विस्तार परिमित सीमा से अधिक हो जाय, तो उसे 'ग्रन्थ' या 'प्रबन्ध' भले ही कह लें, पर निबन्ध नहीं कह सकते । इसी प्रकार यदि प्रतिपादन-शैली साहित्यिक न हो, तो केवल-मात्र विषय का पारिभाषिक रूप में प्रतिपादन 'शास्त्र' या 'विज्ञान' होगा, निबन्ध नहीं । सारांश यह कि साहित्य की परिधि में आने वाले निबन्धों में उक्त पांचों बातें आवश्यक और अति अपेक्षित हैं । उक्त पञ्चावयव-सम्पन्न रचना को ही निबन्ध कह सकते हैं ।

पाश्चात्य लेखकों ने निबन्ध की पाँच 'विशिष्ट विशेषताएँ' बताई हैं । वे ये हैं—

(१) निबन्ध केवल मात्र गूढ़ 'तर्क-वितर्कों' अथवा 'वादों और सिद्धान्तों' का ही पुलिन्दा नहीं, वरन् उसमें किसी ठोस विषय का प्रदर्शन ऐसे सरल ढंग से किया जाना चाहिये जिससे पाठक के मन में उस विषय का एक ऐसा सुस्पष्ट और सुस्थिर चित्र या संस्कार बैठ जाय जिससे उस विषय के और अधिक मनन, चिन्तन और विचारोद्दीपन में प्रेरणा प्राप्त हो सके ।

(२) निबन्ध की रचना अल्पकाय, सुपाठ्य और कलापूर्ण होनी चाहिये।

(३) उसकी प्रतिपादन-शैली आकर्षक हो।

(४) उसमें लेखक के व्यक्तित्व—उसकी अपनी निजी धारणाओं, संस्कारों और अभिरुचियों—की छाप हो।

(५) सर्वाङ्गव्यापी न होकर भी निबन्ध अपने-आपमें परिपूर्ण हो।

निबन्ध की इन विशेषताओं एवं उक्त परिभाषा के अनुसार निबन्ध की रचना पद्य और गद्य दोनों में ही की जा सकती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' एवं श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'कर्मवीर' नामक कविताएँ पद्यात्मक निबन्ध के अच्छे नमूने कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार किसी दृश्य, घटना अथवा अवस्था का पद्यात्मक वर्णन एवं कथात्मक या वृत्तान्त-प्रतिपादक कविताएँ भी निबन्ध-कोटि में गिनी जा सकती हैं। परन्तु साधारणतया निबन्ध गद्य में ही लिखे जाते हैं। गद्य ही 'विवेचन' तथा 'तथ्यनिरूपण' में पद्य की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। निबन्ध के आवश्यक अंगों की पूर्ति गद्य के द्वारा ही अधिक समीचीन रूप से सिद्ध होती है। पद्य अथवा कविता प्रायः कल्पना के स्वर्लोक में विहार करती है; और गद्य इसी दुनिया की चीज़ है। अतः पद्य में लिखने की मनाही न होने पर भी, गद्य ही निबन्ध की अपनी और प्रचुरतया व्यवहृत शैली है।*

---

*गद्य शब्द का अर्थ है 'स्पष्ट वाणी' (√ गद् व्यक्तायां वाचि), अथवा सहज नैसर्गिक भाषा। गद्य में सीधे-सादे ढंग से मनुष्य अपनी दैनिक व्यवहार की भाषा में तथ्य-निरूपण करता है। इसके प्रतिकूल 'पद्य' या कविता में कृत्रिम ढंग से बात को अतिरंजित करके—बढ़ा-चढ़ा कर, कल्पना के हवाई घोड़े पर चढ़ाकर तथा छन्द-अलंकार आदि के बन्धनों में जकड़ कर, भाषा और भाव दोनों को ही चमत्कृत करके—

(२) निबन्ध के भेद

प्रतिपाद्य विषय एवं प्रतिपादन शैली के आधार पर निबन्ध के दो मुख्य भेद हैं—*

(१) बहिरंग या पदार्थनिष्ठ (वर्णनात्मक) और

(२) अन्तरंग या भावनिष्ठ (विचारात्मक)।

बहिरंग निबन्धों में प्रायः मूर्त विषयों का पदार्थगत वर्णन होता है। इनकी शैली चमत्कृत और कलापूर्ण होती है। भाषा अलंकृत एवं लाक्षणिकता को लेकर चलती है। किसी व्यक्ति, प्राकृतिक दृश्य, ऋतु, वन, पर्वत आदि मूर्त वस्तु का, या किसी घटना—युद्ध, यात्रा,

---

कहने की प्रथा है। अतएव पद्य रसात्मक अधिक, परन्तु यथार्थ-वस्तु-निरूपण में कम समर्थ है। निबन्ध में सूक्ष्म विवेचन और चिन्तन का भाग अधिक रहता है, अतः गद्य ही उसके लिए स्वभावतः अधिक उपयुक्त माध्यम है।

* कई विद्वान् 'भावात्मक' नाम से निबन्धों की एक तीसरी श्रेणी का कथन करते हैं। ये निबन्ध कविता के 'रहस्यवाद' का आवरण लेकर भावावेशमयी शैली में लिखे गये हैं। इनकी भाषा त्रुटित और भाव असंबद्ध एवं विक्षिप्त-से हैं। कुछ काल के लिए तो हिंदी में ऐसे निबन्धों की एक बाढ़-सी आ गई थी। पर इनका प्रचार प्रायः आरंभ-कालीन पत्र-पत्रिकाओं में ही सीमित रहा। पुस्तकाकार में ऐसे निबन्ध कम ही दृष्टिगोचर हुए हैं। शायद रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के अनुकरण पर इनकी सृष्टि हुई थी। अब विवेक और गाम्भीर्य के विकास के साथ-साथ इनका चलन कम हो रहा है। तात्विक समीक्षण और विचार-संदीपन के अभाव में हम ऐसे निबन्धों को वर्णनात्मक ही कह सकते हैं। वस्तुतः इन्हें निबन्ध न कह कर 'काव्यात्मक गद्य' ही कहना चाहिये। ये भावप्रवणता की दशा में लिखी हुई 'छन्दहीन कविता' ही हैं।

विवाह, पर्व, त्योहार आदि—का, अथवा किसी अवस्था—सुख, दुःख, बीमारी, करुणा, गरीबी, अमीरी आदि—का पदार्थनिष्ठ वर्णन इन निबन्धों का विषय है।

अन्तरंग निबन्धों में प्रायः अमूर्त एवं इन्द्रियातीत विषयों का भावनिष्ठ तात्विक विवेचन रहता है। इनकी शैली साहित्यिक होने पर भी स्वाभाविक होती है। इसमें लाक्षणिकता कम और अभिधा-वृत्ति की प्रधानता रहती है। भाषा को सरल और विचार की संदेश-वाहिनी बनकर संयम में रहना पड़ता है। उसे चांचल्य और स्वच्छन्द उछल-कूद का कम अवकाश मिलता है। उसे अनैसर्गिक प्रसाधनों द्वारा सजकर सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति का भी पूरा मौका नहीं मिलता।

निबन्ध के इन दोनों प्रकारों में मौलिक भेद यह है कि बहिरंग निबन्धों में विषय प्रायः मूर्त होता है और उसका वर्णन भी बाह्या-वस्था के वर्णन से सम्बन्ध रखता है। इस बाह्य रूप के वर्णन को 'पदार्थगत वर्णन' कहते हैं। अन्तरंग निबन्धों में विषय प्रायः अमूर्त होता है और उसका वर्णन भी लेखक के आन्तरिक भावों के अनुसार तात्विक विवेचन की पद्धति पर चलता है। जैसे दुःख या करुणा के बाह्य पदार्थगत वर्णन में केवल दुःखी या करुणी (करुणाभाजन) की निरीह ए दयनीय दशा का वर्णन होगा। उसके दुःख, शोक से लेखक पाठक को रुला सकता है; पर अन्तरंग निबन्ध में दुःख या करुणा के मनोभाव का शास्त्रीय विवेचन या तात्विक विश्लेषण रहेगा। इसे पढ़कर पाठक के मनोभावों की प्रवणता न होकर, विचारो-द्दीप्ति होगी और मनन और चिन्तन को प्रेरणा मिलेगी।

हिन्दी में विचारात्मक निबन्धों की दो बड़ी श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं— (१) निरूपणात्मक और (२) आलोचनात्मक। निरूप-णात्मक निबन्धों में किसी पदार्थ, तत्व, सिद्धान्त, विचार अथवा विज्ञान या दर्शन के किसी विशेष 'वाद' का निरूपण या प्रतिपादन किया होता

है और आलोचनात्मक निबन्धों में दूसरों द्वारा प्रतिपादित विचारों या रचनाओं का आलोचन—गुण-दोष-विवेचन अथवा समीक्षण—रहता है। निरूपणात्मक निबन्ध दार्शनिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, सदाचारिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, ऐतिहासिक आदि विषय-भेद से अनेक प्रकार के हैं। इसी प्रकार आलोचनात्मक भी विषय-भेद से अनेक प्रकार के हैं। इनके साहित्यिक और पारिभाषिक दो बड़े भेद हैं। पहले में साहित्यिक आलोचना और दूसरे में इतर विषयों की आलोचना रहती है। हिन्दी साहित्यिक आलोचना के निबन्धों ने यथेष्ट प्रगति की है। पारिभाषिक निबन्ध और तत्सम्बद्ध आलोचन की अभी बहुत कमी है।

साहित्यिक आलोचन में दो शैलियों का प्रयोग होता है—(१) तुलनात्मक या निर्णयात्मक शैली और (२) व्याख्यात्मक शैली। पहली में किसी रचना के गुण-दोषों की परीक्षा करके उसकी हेयता या उपादेयता का तुलनात्मक मूल्य कूता जाता है। इसमें खण्डन-मंडन का भाग भी अधिक रहता है। दूसरी व्याख्यात्मक शैली में किसी रचना में प्रतिपादित वस्तुजात का स्पष्टीकरण या संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। भले-बुरे का निर्णय भी पाठक पर ही छोड़ दिया जाता है। अनावश्यक खंडन या अनुचित समाधान, इसमें नहीं दिया जाता। इसकी आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का आधार लिया जाता है। ऐतिहासिक पद्धति में सामयिक परिस्थितियों—सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों—के प्रभाव का निरूपण रहता है और मनोवैज्ञानिक पद्धति में आलोच्य लेखक की अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण, और उसकी मानसिक अभिरुचियों का व्यवच्छेद या विश्लेषण किया जाता है।

(३) निबन्ध का महत्त्व

साहित्य के तीनों प्रधान अङ्ग—काव्य, नाटक और उपन्यास (तथा एकांकी और गल्प भी) प्रायः 'जीवन की व्याख्या' के उद्देश्य को

लेकर चलते हैं। इनमें रचयिता बहुविध जीवन के नाना रूपों का चित्र प्रस्तुत करता है। लेखक को जीवन—सामाजिक, जातीय अथवा राष्ट्रीय—का जो आलोक दिखाई पड़ता है उसी के प्रकाश में वह उसकी व्याख्या करता है, जिससे पाठक को जीवन के अनेक रूपों और बहुमुखी प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। इस अंश में कवि, नाटककार या उपन्यासकार एक फ़ोटोग्राफ़र की भान्ति जीवन की अनेकरूपता की ठीक-ठीक प्रतिकृति उपस्थित कर देता है। कहीं-कहीं कोई क्रान्तदर्शी कवि या कलाकार यथार्थता को कल्पनामय आदर्शवाद की ओर भी ले जाने का यत्न कर देता है, पर प्रधानतया कलाकार का उद्देश्य यथाभूत जीवन की व्याख्या या स्पष्टीकरण करना ही है। परन्तु इस दिशा में निबन्ध की विशेषता यह है कि वह जहाँ यथाभूत जीवन की व्याख्या करता है, वहाँ साथ ही जीवन के निर्माण एवं उन्नयन में भी सहायक होता है। यह देखा जाता है कि प्रत्येक जाति के साहित्य में कवियों, नाटककारों और उपन्यास-लेखकों की अपेक्षा जातीय उत्थान और राष्ट्रीय नवजीवन के निर्माण में निबन्धकार ही विशेष रूप से अग्रसर रहे हैं। एक लीक पर चलते आये राष्ट्रीय जीवन का काँटा बदल कर उसे नई सरणी पर आरूढ़ करना—नई विचारधारा में प्रवाहित करना—प्रधानतया निबन्धकारों का ही कार्य रहा है। जाति या देश को रूढ़ियों की शृङ्खला के जटिल जाल से उन्मुक्त करने, पतन से उत्थान की ओर ले जाने और दासता के घोर नरक से स्वतंत्रता के सुखमय स्वर्ग में पहुँचाने में प्रायः निबन्ध-लेखकों ने ही अधिक महत्वपूर्ण भाग लिया है। अतः निबन्ध की इस अंश में यह विशेषता सर्वमान्य है कि इसमें व्याख्यात्मकता के साथ जीवन के निर्माणात्मक तत्वों का भी समावेश होता है।

यह भी स्पष्ट है कि आज के संसार के किसी साहित्य की बहु-मूल्यता या उपादेयता उसके कवियों आदि पर इतनी निर्भर नहीं जितनी उसके निबन्धों की उच्चता और प्रचुरता पर। यह निर्विवाद

है कि आज के समृद्ध अंग्रेजी साहित्य की महत्ता तथा सर्वप्रियता का आधार केवल मात्र उसके काव्य, नाटक और उपन्यास ही नहीं हैं, अपितु उसकी सर्वमान्यता और आकर्षण अधिकांश उसके उच्चकोटि के विचारात्मक, आलोचनात्मक और पारिभाषिक निबंधों के कारण से है। कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि 'कलाकार की महत्ता का आधार भी निबन्धकार ही है। कलाकार तो स्वयं पङ्गु है, उसे प्रकाश में लाने के लिए भी एक प्रौढ़ कलाविवेचक की अपेक्षा रहती है जो निबन्ध के माध्यम से ही कलाकार की कीर्ति को दिग्दिगन्तव्यापी बनाता है। शेक्सपीयर और मिल्टन को उनके आलोचकों ने ही अमर बनाया है। सर्वत्र इन आलोचकों ने 'निबन्ध' के ही माध्यम को अपनाया है। जिस कलाकार को अच्छे निबन्ध-लेखक नहीं मिलते वह तो वन-पुष्प की तरह वहीं कुम्हला जाता है'*। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि निबन्ध—विशेषतः आलोचनात्मक निबन्ध—वास्तव में साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रगतियों को—तथा यथेष्ट सीमा तक कलाकार की कल्पना और मनस्तरङ्गों को भी – न केवल प्रभावित ही करता है, अपितु उनका पूर्ण रूप से नियंत्रण भी करता है। अतः

*इस कथन में यदि पूरी नहीं तो आंशिक सत्यता अवश्य है। कलाकार और निबन्धकार में 'परस्पराश्रय भाव' सम्बन्ध पाया जाता है। एक ओर कलाकार निबन्धकार का उपजीव्य है, कारण कि कलाकार की कला के चमत्कार से ही निबन्धकार को प्रेरणा मिलती है और वही उसकी प्रवृत्ति—और सम्भवतः वृत्ति—का भी आधार है। दूसरी ओर कलाकार भी अपनी कला की परख, लोकमान्यता और स्थायिता के लिए निबन्धकार का मुहताज है। कलाकार वाह्य है और निबन्धकार उसका वाहन है। निबन्ध विज्ञापन है और कला विज्ञाप्य। आज के युग में विज्ञाप्य से विज्ञापन की महत्ता और अनिवार्य उपयोगिता सर्वसम्मत है।

वस्तुत: साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों का प्रवर्तक और उसकी महत्ता तथा सम्पन्नता का घटक निबन्ध ही है।

न केवल साहित्य की मान्यता अपितु भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति के चरम विकास का कारण भी निबन्ध ही है। निबन्ध में गम्भीर विवेचन किया जाता है। उसमें केवल शब्द-क्रीडा से काम नहीं चल सकता। उसमें विचारगत सूक्ष्मता को प्रगट करने के लिए ऐसे तुले-नपे शब्दों का प्रयोग अपेक्षित होता है जिनसे परस्पर अर्थगत भेद की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हो सके। निबन्ध के द्वारा, एक ओर, साधारणतया समानार्थक प्रतीयमान शब्दों का भिन्न-भिन्न विशिष्ट अर्थों में स्थिरीकरण होता जाता है, और दूसरी ओर नानार्थक शब्दों के अर्थों का पारिभाषिकीकरण भी होता रहता है। इससे भाषा का शैथिल्य और ढीलापन दूर होकर उसमें अभिव्यक्ति की शुद्धता एवं स्पष्टता आती है; भाषा परिमार्जित होकर टकसाली बनती जाती है। साथ ही नित्य नये विचारों की अभिव्यञ्जना के लिए नये शब्दों के प्रयोग के द्वारा भाषा समृद्ध और प्रौढ़ बन जाती है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल* लिखते हैं—'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है'। यह काम कविता आदि के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। कविता तो हृदय का उद्‌गार है जो न्यूनातिन्यून विकसित भाषा के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। संसार की अविकसित—लिखने तक में भी न आनेवाली—भाषाओं में भी चमत्कारक कविता विद्यमान है। सारांश यह कि भाषा की अभिव्यंजन-शक्ति का चरम विकास, अर्थगत सूक्ष्मता का स्थिरीकरण, शब्दों की पारिभाषिक निरूढ़ता, अभिव्यक्ति का परिमार्जन, तथा शब्द-भण्डार की समृद्धि जैसी निबन्धों के द्वारा सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकती है वैसी कविता आदि के द्वारा नहीं। जिस भाषा के साहित्य में जितने

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०५।

अधिक निबन्ध होंगे, उसकी सर्वांगीण क्षमता भी उतनी ही अधिक मानी जायगी।

एक और दृष्टि से भी साहित्य के इतर अंगों की अपेक्षा निबन्ध की विशिष्टता सिद्ध है। साहित्य के कविता आदि दूसरे अंगों का सम्बन्ध मानवीय हृदय के किन्हीं स्थायी मनोवेगों—प्रेम, करुणा, क्रोध, हास्य, वीरता आदि—से है, परन्तु निबन्ध का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मस्तिष्क—मनन, चिन्तन, निर्धारण—से है। यह स्पष्ट है कि मनोभावों का प्रदर्शन, निःसन्देह, सांस्कृतिक विकास की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है और सूक्ष्म विवेचन वस्तुतः प्रौढावस्था में ही प्राप्त होता है। सभ्य, अर्धसभ्य और असभ्य सभी में—पशुओं में भी—मनोवेग विद्यमान हैं और उनका प्रदर्शन भी सभी—पशु भी—समान रूप से ही करते हैं। फिर कहाँ रही सांस्कृतिक उच्चता की विशेषता? मनोवेगों के प्रदर्शन के लिए किसी बड़ी योग्यता की अपेक्षा नहीं। यहाँ तक कि भाषा की भी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं। पशु और बच्चे बिना भाषा के भी अपने मनोवेगों को व्यक्त कर लेते हैं। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक जाति की प्राथमिक अवस्था का साहित्य इन्हीं मनोवेगों—प्रेम, करुणा आदि—का प्रदर्शनमात्र होता है और उसका रूप भी कविता, किस्से और कहानियाँ आदि ही हुआ करता है। परन्तु निबन्ध सदा साहित्यिक विकास की परिपक्वावस्था में ही लिखे जा सकते हैं, जब कि साहित्य के रचयिता बौद्धिक स्तर में उन्नत हो कर गम्भीर चिन्तन की ओर प्रवृत्त हों। मनोवेगों की पतंग को कल्पना की डोरी से उड़ाती हुई कविता हमें क्षणभर के लिए चमत्कृत कर सकती है—हमारे स्थायी मनोभावों को भड़का कर हमें क्षणिक रस या स्वाद की अनुभूति करा सकती है; पर जीवन की ठोस समस्याओं और गम्भीर उलझनों का हल उससे नहीं हो सकता। इस काम के लिए तो निबन्ध ही हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं, जिनमें स्थिति के गहरे अध्ययन और तदनुरूप कर्तव्य के निर्धारण की क्षमता विद्यमान है।

कविता और कल्पना बच्चों के विनोद की चीज़ है। वही प्रायः कल्पना के संसार में रहते हैं। उन्हें ही गीत और कहानियां भाती हैं। प्रौढ़ावस्था में मनुष्य अधिक गम्भीर चिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। ज्यों-ज्यों उसमें सदसद्विवेचन और हेय-हान तथा उपादेयोपादान की मनीषा विकसित होती जाती है त्यों-त्यों वह कल्पना से हट कर संसार के कठिन सत्यों का अनुभव करता जाता है। इसी प्रकार साहित्यिक विकास में कविता की अपेक्षा निबन्ध अधिक विकसित अवस्था के परिचायक हैं। उच्चकोटि के निबन्धों के आधार पर ही आज के सभ्य संसार में किसी जाति के साहित्य का मूल्य कूता जाता है और उसकी जातीय या राष्ट्रीय प्रतिभा के बौद्धिक स्तर का अनुमान लगाया जाता है।

(४) हिन्दी निबन्ध के विकास की रूप-रेखा

हिन्दी में निबन्ध-साहित्य अभी उत्कर्ष की किसी उल्लेखनीय सीमा तक नहीं पहुँच पाया है। अभी वह प्रारम्भिक अवस्था से कुछ ही आगे बढ़ कर उदीयमान दशा में प्रविष्ट हुआ है। आजकल की समुन्नत भाषाओं—विशेषकर इंगलिश और फ्रैंच—के साहित्य इस दिशा में बहुत उन्नति कर चुके हैं। शायद हिन्दी के पाठक अभी तक भी उपन्यासों और काव्य-नाटकों के ही रसिक बने हुए हैं। गूढ़ निबन्धों की ओर उनकी रुचि अभी विकसित नहीं हुई। पाठकों की रुचि की परिमार्जित अवस्था में ही निबन्ध प्रगति कर सकते हैं। आज के पाठक ही कल के लेखक बना करते हैं। अतः पाठकों के अभाव में लेखकों ने भी इस ओर अपने मस्तिष्क और लेखनी को व्यापृत नहीं किया है।

इस अभाव का एक और कारण यह भी प्रतीत होता है कि अब तक—और अभी भी —हिन्दी को देश की उच्चशिक्षा में वह स्थान नहीं मिल पाया जो निबन्ध की प्रगति के लिए उपयोगी होता है। यहाँ के स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटी की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है। साहित्य, विज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शन, इतिहास, कानून

आदि सभी गंभीर विषयों को हम अंग्रेजी में ही पढ़ते हैं और अंग्रेजी में ही उनका मनन और विवेचन करते हैं। इससे हमारे चिन्तन का माध्यम ही अंग्रेजी बन गया है। जो लोग देशीय पद्धति पर शिक्षा पाकर हिन्दी के ज्ञाता बनते हैं, वे निःसन्देह भाषा के तो पारङ्गत विद्वान् हो जाते हैं, पर आधुनिक विषयों की पारिभाषिक मार्मिकता तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। वे अधिक-से-अधिक काव्य, नाटक, उपन्यास या इन्हीं की आलोचना के सम्बन्ध में कुछ लिख सकते हैं। इधर यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएट, जो आधुनिक गम्भीर विषयों के मर्मज्ञ बनते हैं, हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार न होने से—और हिन्दी के पाठकों की इस ओर रुचि का विकास न होने के कारण भी—हिन्दी में कुछ गम्भीर तत्व लिखने का साहस नहीं कर सकते। और करें भी कैसे? हिन्दी में अभी सूक्ष्म अर्थ भेद की अभिव्यक्ति के लिए पारिभाषिक शब्द ही नहीं मिलते। इस प्रकार राष्ट्रीय मस्तिष्क दो वर्गों में बँटा हुआ-सा दीखता है—भाषा के ज्ञाता, पर विषय-ज्ञान से अपरिचित और विषयों के ज्ञाता, पर भाषा में अनधिकृत। यह स्पष्ट है कि भाषाभिज्ञ की अपेक्षा विषयज्ञ ही अच्छा निबन्ध-लेखक बन सकता है। इधर विषयज्ञों के मस्तिष्क की अभिनव स्फूर्ति की अभिव्यंजना हिन्दी में न होकर अंग्रेजी में ही हो रही है। आज हमारे देश के प्रायः सभी पूज्य नेता, महादार्शनिक, महावैज्ञानिक, महागणितज्ञ और महान् अर्थशास्त्री प्रायः सब-के-सब अंग्रेजी में ही लिखने के अभ्यासी हैं। देश के स्वातंत्र्य-संग्राम का प्रायः समूचा साहित्य अंग्रेजी में ही खड़ा हुआ है। विविध राजनैतिक आन्दोलन, और राष्ट्र की गम्भीर समस्याएँ सब अंग्रेजी के द्वारा ही प्रसृत होती हैं। हिन्दी बेचारी तो साहित्यिक, सामाजिक, सदाचारिक और धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रही है। हाँ, यह अवश्य है कि अंग्रेजी साहित्य के कुछ विद्यार्थियों ने साहित्य-विवेचन-कला के सिद्धान्तों को हिन्दी में प्रविष्ट करके 'आलोचनात्मक साहित्य' को यथेष्ट

प्रगति की है और आज का हमारा आलोचना-साहित्य वास्तव में अपने वैविध्य एवं परिमाण और गरिमा की मात्रा पर यथार्थ गर्व कर सकता है। परन्तु अन्य ऊँचे एवं गम्भीर विषयों के मार्मिक विवेचन में—विचारात्मक निबन्धों में—यह अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। देश के परिवर्तित वातावरण में हिन्दी का उज्ज्वल भविष्य इस दिशा में निबन्ध-लेखकों को तीव्र प्रेरणा देने वाला सिद्ध होना चाहिए।

हिन्दी में निबन्ध-साहित्य की जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर हम हिन्दी-निबन्ध के इतिहास को तीन प्रधान कालों में विभक्त कर सकते हैं—(१) निर्माणकाल (१८५०–१९००), (२) संस्कारकाल (१९००–१९२०) और (३) संक्रमण काल (१९२० से १९५०)।

निर्माण-काल (१८५०–१९०० ई०)

भारतीय इतिहास के मध्य-काल में मुस्लिम आधिपत्य के प्रथम पदार्पण के समय जैसे भारतीय चेतना की प्रतिक्रिया कविता का आश्रय लेकर हिन्दी-साहित्य में 'वीर-काल' के रूप में प्रगट हुई थी, वैसे ही अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में जातीय प्रतिभा ने गद्य को माध्यम बनाकर निबन्ध के 'निर्माण-काल' को जन्म दिया। अब और तब की परिस्थितियों में कुछ ऐसे मौलिक भेद थे, जिनके कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। वह समय युद्धों और आक्रमणों का था जिनका उद्देश्य, प्रारम्भ में केवल लूट-मार और कुछ पीछे से राज्य-लिप्सा बन गया था। प्रारम्भिक मुसलमान आक्रान्ता सांस्कृतिक संघर्ष में नहीं पड़े थे। अत: उस समय वीर भावना की उत्तेजना और सैनिक धर्म का संचार ही प्रमुख कर्तव्य था, जिसके लिए कविता का माध्यम सर्वश्रेष्ठ एवं अव्यर्थ महौषध था। इसी के फलस्वरूप उस काल में वीर-काव्यों की सृष्टि हुई और वह हुई भी थी राजदरबारों में। मुस्लिम राज्य जब कुछ-कुछ सुव्यवस्थित हुआ तब उसने धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप प्रारम्भ किया जिसकी चरम

सीमा औरंगजेब के समय में दीख पड़ी। तब से भारतीय प्रतिभा की प्रतिक्रिया सांस्कृतिक क्षेत्र में भी प्रगट होने लगी। इस समय रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी और सूर आदि महाकवियों ने अपनी दिव्य वाणी के अलौकिक प्रभाव से जहां जातीय संस्कृति की रक्षा की वहां जायसी, रहीम आदि अनेक मुसलमानों को भी अपने रंग में रंग कर 'राजनैतिक विजेताओं' पर भी 'सांस्कृतिक विजय' प्राप्त की। इन्हीं महापुरुषों की साधना ही सम्भवतः अकबर की 'उदार नीति' की घटक प्रतीत होती है। औरंगजेब के समय में जब धार्मिक असहिष्णुता पराकाष्ठा तक पहुँच गई, तब उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया एक ओर भूषण, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्दसिंह की अमर वाणी के रूप में और दूसरी ओर शिवाजी एवं दशम गुरु महाराज के ओजस्वी सैनिक कर्म के रूप में प्रगट हुई। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का यह अविरल क्रम अबाध गति से चलता गया। विदेशी राजसत्ता और विदेशी संस्कृति के अवांछनीय दबाव के विरुद्ध भारतीय आत्मा का यह प्रदर्शन सर्वथा स्वाभाविक था।

अँग्रेजी राज्य का प्रथम पदार्पण इससे कुछ भिन्न रूप और भिन्न परिस्थितियों में हुआ। अँग्रेजों ने कृपाण की अपेक्षा कूटनीति का अधिक प्रयोग किया। भेद-नीति के ये महान् आचार्य भारत में व्यापारी वेष में प्रवृष्ट हुए और राजसत्ता हथियाने से भी पहले, यहाँ की संस्कृति पर तीव्र आक्रमण करने लग गये। अपनी संरक्षकता में ईसाई प्रचारकों का एक दल समूचे भारत की सांस्कृतिक विजय के लिए प्रस्तुत किया गया और राजनीति के आवरण में लार्ड मैकाले की निराधार कल्पना को मान कर यहाँ की भाषा और साहित्य की सततवाहिनी सरस्वती के स्रोत को सदा के लिए सुखा डालने का षड्यंत्र रचा गया। भारत के सामाजिक विधान में जो दुर्बल स्थल थे—सामाजिक कुरीतियाँ, जाति-पांति का भेद, अस्पृश्यता, स्त्री-शिक्षा का अभाव, खान-पान तथा आचार-विचार सम्बन्धी रूढ़ियाँ, बाल-विवाह आदि-

आदि—वही सबसे अधिक उग्र प्रहार के लक्ष्य बनाये गये। भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्वों और उत्कृष्ट अंशों को भी जान-बूझकर विकृत रूप में दर्शाया गया। भारतीय संस्कृति और साहित्य पर, शायद, यह पहला बौद्धिक आक्रमण था जिसमें मुसलमानों के समान बलात्कार और तलवार का प्रयोग न था, अपितु तर्क और युक्ति से काम लिया गया था। प्रारम्भ में जो थोड़ा-बहुत बलात्कार था भी, वह १८५७ के मेरठ के विद्रोह के बाद जाता रहा, कारण कि सांस्कृतिक बलात्कार भी मेरठ के विप्लव के कारणों में से एक था। इस बौद्धिक संघर्ष की प्रतिक्रिया ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज आदि अनेक सुधारवादी संस्थाओं के जन्म के रूप मे प्रगट हुई। देश की भाषा—हिन्दी—के साहित्य पर भी इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। यह समय कोरी कल्पना और कविता का न था। मनोभावों की उद्दीप्ति के स्थान पर बौद्धिक तत्वों की आवश्यकता थी। विरोधी तर्कों का समाधान भावुकता से नहीं, प्रत्युत प्रबल एवं अकाट्य युक्तियों के द्वारा ही किया जा सकता था। राजनैतिक दासता के साथ ही देश की आत्मा—संस्कृति और साहित्य—का भी दम घुट रहा था। इस विकट स्थिति का प्रतिकार स्वभावतः ही गद्य का आश्रय लेकर निबन्ध के द्वारा ही किया जा सकता था। कविता और नाटक आदि की अवहेलना नहीं की गई—वे भी अपने-अपने क्षेत्र में इसी काम में संलग्न रहे,—पर अधिक गम्भीर समस्याओं के हल के लिए बुद्धि-तत्व का समावेश अनिवार्य हो गया था। अतः निबन्ध के माध्यम का ही अधिकतर प्रयोग किया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी में निबन्ध का जन्म उन परिस्थितियों और आवश्यकताओं की माँग का स्वाभाविक परिणाम था, जो अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में पश्चिमी संस्कृति एवं साहित्य के संपर्क के कारण उत्पन्न हो गई थीं।

इस राजनैतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आलोक में हिन्दी-निबन्ध की निर्माणकालिक रूपरेखा का भी यथेष्ट आभास मिल जाता

है। राष्ट्र के कर्णधारों की दृष्टि में अपनी त्रुटियों को दूर करना और उसके लिए सामाजिक सुधार का एक प्रबल आन्दोलन चलाना आवश्यक दीख पड़ा। फलस्वरूप अनेक दृष्टिकोणों से प्रवृत्त, भिन्न-भिन्न सुधारवादी सभा-सोसाइटियों का जन्म हुआ। साथ ही राजनैतिक आन्दोलन के लिए 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। मुद्रण यंत्र के प्रादुर्भाव के कारण अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। ट्रेक्ट और पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इधर कट्टरतावादियों ने भी नये सुधारों के विरोध में संस्थाएँ खड़ी कीं। ईसाइयों ने भी किसी सीमा तक देश की भाषा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। इस प्रकार खण्डन-मण्डन और मण्डित-खण्डन का एक ताँता-सा बँध गया। परस्पर इन सबका चाहे जितना भी विचार-संघर्ष रहा हो, यह तथ्य है कि सामूहिक रूप से इन सबने हिन्दी साहित्य—विशेषतः नवजात निबन्धलतिकाँ—का खूब सिञ्चन किया। आखिर खण्डन-मण्डन का भी प्रारम्भिक चिन्तन, मनन और निर्धारण में अपना भाग है और अतएव उसका भी अपना स्वतंत्र साहित्यिक मूल्य है।

इस प्रकार निर्माणकालीन निबन्ध-साहित्य का समाज-सुधार ही प्रायः प्रधान विषय रहा। कहीं-कहीं अपने अतीत गौरव के यशोगान, अपनी संस्कृति के किन्हीं उत्कृष्ट तत्वों के समाधान, और सदाचारिक एवं शिष्टाचार सम्बन्धी विषयों पर भी कुछ लेख लिखे जाते रहे। अपने हाँ के महापुरुषों के जीवनचरित, त्योहार, पर्व आदि पर भी प्रारम्भिक पत्रिकाओं में निबन्ध मिलते हैं। साथ ही ऋतुओं और प्राकृतिक दृश्यों तथा तीर्थस्थानों के भी वर्णन उपलब्ध होते हैं। इन सबके अन्तस्तल में एक प्रबल प्रतिक्रिया की भावना प्रतिध्वनित होती है जिसमें देश, जाति और धर्म का प्रगाढ़ प्रेम ही प्रधानतया गुञ्जरित हो रहा है। कहना न होगा कि इस समय के लेखकों की दृष्टि मध्ययुगीन थी और अपने महामहिमशाली भूतकाल का गौरव ही उनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत था। इस समय की रचनाओं में गम्भीरता कम

और भावुकता तथा शब्द-प्रसार बहुत मिलता है।

इस समय अभी भाषा भी अव्यवस्थित दशा में थी। उसका न तो कोई स्वरूप ही निश्चित हो पाया था और न किसी वाक्य-रचना-शैली का ही निर्धारण हो सका था। इससे पूर्व कविता की प्रधान भाषा व्रज थी। गद्य के रूप-निर्माण की अभी चेष्टाएँ ही हो रही थीं। पं० लल्लूलाल की भाषा में व्रजभाषापन था, तो मु० सदासुखलाल अपनी संस्कृतनिष्ठता को नहीं छोड़ सके थे। सदल मिश्र अवधी का पुट दे रहे थे और राजा शिवप्रसाद उर्दू के हामी थे। राजा लछमणसिंह प्रान्तीयता को लेकर चले थे और इन्शा-अल्लाह खाँ अपने वाक्य-विन्यास में ख़ालिस फ़ारसी की पद्धति का अनुकरण कर रहे थे। देश में अभी एक ओर 'खड़ी बोली और व्रज' का और दूसरी ओर हिन्दी-उर्दू का झगड़ा चल रहा था। विकट विरोधी परिस्थितियों के कारण लेखकों को इस ओर ध्यान देने का भी अवकाश कम था। इस काल के पूर्वार्द्ध के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों—स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय, पं० श्रद्धाराम फिलौरी और नवीनचन्द्र राय आदि—का ध्यान समाज-सुधार और अपनी संस्कृति की रक्षा पर केन्द्रित था। भाषा-सुधार उनके कार्य-क्रम में न था और न इस ओर उनकी अभिरुचि थी। यही हाल ईसाई प्रचारकों का था। सन् १८७० के लगभग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र साहित्यिक रंग-मंच पर आये और एक कर्मवीर की भान्ति भाषा के परिमार्जन में जुट गये। उन्होंने राजनैतिक दाव-पेंचों से ऊपर उठकर और कोरी दलील-बाज़ी में न पड़ कर, भाषा के स्वाभाविक विकास के अनुसार हिन्दी-गद्य को व्यावहारिक रूप देने की व्यवस्था की जिसे उस समय के पठित समाज ने स्वीकार किया। इसमें संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेजी आदि सभी प्रचलित भाषाओं का यथास्थान सुन्दर संमिश्रण था। शब्दावली में उदारता से काम लिया गया। वाक्य-रचना में स्वाभा-विकता रखी गई। अपनी समर्थ प्रतिभा और व्यापक दृष्टि से भारतेन्दु

ने हिन्दी को—भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से—एक ऐसा टकसाली रूप दिया जो साहित्यिक आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूर्ण कर सका। साधारणतया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी-निबन्ध का 'जन्म-दाता' कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु ने अपनी उत्कृष्ट कृतियों के द्वारा हिन्दी-गद्य के स्वाभाविक विकास में एक विलक्षण तीव्रता उत्पन्न कर दी थी, परन्तु निबन्ध के क्षेत्र में उनकी देन बहुत कम है। नाटक, प्रहसन और कविता ही उनको साहित्यिक स्फूर्ति के प्रधान क्रीड़ा-स्थल रहे। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन,' 'कवि-वचन-सुधा' आदि दो-तीन पत्रिकाओं के द्वारा उन्होंने निबन्ध-रचना का श्रीगणेश करके हिन्दी-गद्य और विशेषतः निबन्ध को एक चलता रूप दिया। भावों की सरसता और व्यंगपूर्ण विनोद उनके निबन्धों की विशेषता है। उनका एक निबन्ध-संग्रह 'खुशी' नाम से उनके जीवन-काल (सन् १८८७) में ही प्रकाशित हो गया था।

वस्तुतः शुद्ध निबन्ध-रचना के प्रथम आचार्य पं० बालकृष्ण भट्ट को मानना चाहिए। उन्होंने तीस वर्ष तक लगातार 'हिन्दी-प्रदीप' का सम्पादन किया और हिन्दी-निबन्ध के एक निश्चित मार्ग और स्पष्ट पद्धति का सूत्रपात किया। शिष्टाचार, सदाचार, जीवनचरित्र, पर्व-त्योहारों आदि का वर्णन आदि अनेक सांस्कृतिक विषयों पर मार्मिक निबन्ध लिखने के अतिरिक्त साहित्यिक और सामयिक समस्याओं पर भी आपकी लेखनी खूब चली है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सरीखे निष्पक्ष आलोचक भट्ट जी को हिन्दी निबन्ध-साहित्य का स्टील और एडिसन कहते हैं। आपके कुछ निबन्ध 'भट्ट-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी-निबन्ध में भारतेन्दु ने जिस व्यंग्यपूर्ण विनोद का समावेश किया उसमें पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों से और अधिक उत्तेजना मिली। आपके निबन्धों में सरसता और व्यावहारिकता का अच्छा पुट है। निबन्ध की भाषा में करारापन, अनुप्रास और शब्द-विन्यास

की अद्भुत छटा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की लेखनी से मिली। आप अपने समय के 'कलम के कारीगर' माने जाते थे। निबन्ध में 'कलात्व' का आरोप आप की विशेष देन है। भारतेन्दु के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्णदास ने समाज-सुधार सम्बन्धी विषयों पर अच्छे निबन्ध लिखे हैं। पं० दामोदर शास्त्री यात्रा, इतिहास तथा शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर लिखते रहे। इनके अतिरिक्त गो० राधाचरण, श्री हनुमानप्रसाद, हरनाथप्रसाद खत्री, खुन्नीलाल, जसुराम, देवीदास, बा० गदाधरसिंह, काशीनाथ खत्री, ला० श्रीनिवास दास, बा० सुमेरसिंह, बाबा सन्तोषसिंह आदि-आदि इस समय के प्रसिद्ध लेखक हैं।

इस समय का प्रायः सम्पूर्ण निबन्ध-साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में ही उपलब्ध होता है। स्वतंत्र पुस्तक के रूप में कम ही निबन्ध मिलते हैं। उपर्युक्त पुस्तकों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'खुशी', और बालकृष्ण भट्ट की 'भट्ट-निबन्धावली'— के अतिरिक्त हनुमानप्रसाद की 'प्रज्ञा-वाटिका' श्री हरनाथप्रसाद खत्री का 'मानस-विनोद', श्री खुन्नीलाल की 'स्त्री-सुदशा' आदि कतिपय पुस्तकें ही दृष्टिगोचर होती हैं।

संस्कार-काल (१९००—१९२० ई०)

साहित्यिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अंग्रेजी राज्य सुव्यवस्थित हो चुका था। देश भर में अंग्रेजी स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियां बन चुकी थीं। वहां से प्रतिवर्ष सहस्रों ग्रेजुएट नई विचारधारा, नई स्फूर्ति और नये दृष्टिकोण लेकर निकल रहे थे। इधर पाश्चात्य विद्वान् भी भारतीय साहित्य—विशेषतः संस्कृत—के पठन-पाठन और भारतीय संस्कृति के अनुशीलन में लग चुके थे। संस्कृत साहित्य के सम्पर्क का उपशामक प्रभाव उनकी विचारधारा में भी अपेक्षित परिवर्तन ला चुका था। फलतः आरम्भकालिक प्रतिक्रिया की उग्रता में अब धीरे-धीरे कुछ कमी हो रही थी और उसमें गम्भीरता और संजीदगी आ चली थी। दोनों एक-दूसरे के गुण-ग्राहक बन रहे थे। 'निर्माण-कालीन' लेखक जहाँ प्राचीनता और भारतीय गौरव के

अद्भुत भावुक थे, वहाँ इस काल के लेखकों में 'प्राचीनता के मोह' के साथ 'नवीनता का लोभ' भी सम्मिलित हो चुका था। पश्चिमी साहित्य का संपर्क ज्यों-ज्यों गहरा होता गया, त्यों-त्यों 'नवीनता' के प्रति आदर और उसके संग्रह की उत्कट लालसा अङ्कुरित होती गई। अपने साहित्य-भण्डार को भी पश्चिम के उत्कृष्ट रत्नों से भरने की चाह बढ़ने लगी। इससे जहाँ निबन्ध के विषयों में अनेकरूपता आई, वहाँ नवीन स्फूर्ति और नये दृष्टिकोण के साथ-साथ अधिक गम्भीर चिन्तन के अंशों का भी समावेश हुआ।

निबन्ध में शुद्ध साहित्यिक रंग इसी काल में भरा गया। पहले जहाँ निबन्ध-साहित्य सांस्कृतिक एवं धार्मिक तथा सुधारवादी संस्थाओं के वातावरण में प्रचार के साधन के रूप में पनप रहा था, वहाँ इस काल में उसे शुद्ध साहित्यिक संस्थाओं की संरक्षकता प्राप्त हुई। इस दिशा में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' की स्थापना तथा साहित्यिक पत्रिका सरस्वती का प्रकाशन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिंदी माध्यम के द्वारा उच्च शिक्षा देने वाली एकमात्र संस्था गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना और यू० पी० की अदालतों में हिन्दी का प्रवेश आदि इस युग के स्थायी रचनात्मक कार्य के प्रतीक हैं, जिनके द्वारा हिन्दी को विशेष प्रगति मिली।

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है—भाषा और शैली का संस्कार। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा का जो ढाँचा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ा किया था, उसका अपेक्षित संस्कार इस युग में हुआ। सरकारी नौकरी छोड़कर जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में रंग-मंच पर उपस्थित हुए, तब से ही इस युग का प्रारम्भ हुआ। द्विवेदीजी ही इस युग के प्रवर्तक और हिन्दी के प्रधान संस्कर्ता माने जाते हैं। अंग्रेजी साहित्य के आलोक से प्रभावित अनेक लेखक अपनी भाषा के

साहित्य को समृद्ध करने की पुनीत भावना से हिन्दी में लिखने लग गये थे, परन्तु हिन्दी पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त न था। हिन्दी को अपनी चीज़ समझ कर वे इससे मनमानी कर लेते थे। व्याकरण की अवहेलना और अंग्रेजी ढंग के वाक्य-विन्यास के द्वारा वे हिन्दी की काया को भ्रष्ट कर रहे थे। लेखकों के प्रगाढ़ हिन्दी-प्रेम की खातिर यह सब कुछ सह्य था, परन्तु इस से हिन्दी का मुख कुरूप और उसके लावण्य का ह्रास हो रहा था। अपनी आराध्य देवी का यह अपमान द्विवेदी जी को अखरा। वे अपने साहित्य के कलेवर को समृद्ध अवश्य चाहते थे, पर उसके रूप-लावण्य का ह्रास उन्हें अवाञ्छनीय था। इसके लिए उन्होंने एक द्विमुखी आन्दोलन जारी किया—भाषा का संस्कार और उत्कृष्ट निबन्धों का समाहार। उन्होंने एक कड़े प्रहरी की तरह उच्छृंखल लेखकों को सचेत किया और अपनी आलोचना के द्वारा उन पर ऐसी धाक बिठाई कि भाषा की अवहेलना करके कोई भी कुछ लिखने का साहस न कर सकता था। इस दिशा में उनका कार्य उच्छेदन का न था, अपितु शिक्षण का था। वे उदीयमान एवं समर्थ लेखकों को भाषा की पूरी ट्रेनिंग देते थे—उनके लेखों में उचित काँट-छाँट करके उन्हें शुद्ध भाषा लिखने की पूरी शिक्षा देते थे। अपने स्निग्ध एवं सहानुभूतिपूर्ण, परन्तु निःस्पृह एवं निर्मम व्यवहार से उन्हों ने बीसियों नये लेखक 'उत्पन्न' भी किये।

द्विवेदी जी के इस आन्दोलन के फलस्वरूप इस युग में भाषा-ज्ञान सम्बन्धी साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हुआ। प्रामाणिक शब्दकोश, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दकोश, हिन्दी का महान् तथा प्रामाणिक व्याकरण तथा अन्य रचना-कला सम्बन्धी अनेक पुस्तकें इस काल में लिखी गईं। इन्हीं के कारण इस काल का नाम 'संस्कारकाल' रखा गया है।

निबन्ध के क्षेत्र में द्विवेदी जी की देन अमूल्य है। उन्होंने निबन्ध

में भाषा की कृत्रिमता और शब्दाडम्बर की इतिश्री की। निबन्ध लिखने में पुरानी अनावश्यक भूमिका बाँधने की परिपाटी का अन्त किया और इस प्रकार निबन्ध को गम्भीर विवेचन का उपयोगी साधन बनाया। वस्तुतः विचारात्मक निबन्धों का चलन द्विवेदी जी से ही प्रारम्भ होता है। उन्होंने जहाँ भाषा के रूप-लावण्य की रक्षा की, शैली के अनावश्यक वाग्जाल का सुधार किया, वहाँ अंग्रेजी साहित्य के सुन्दर रत्नों के संग्रह द्वारा हिन्दी साहित्य को नव-नव विचार-सम्पन्न और सर्वाङ्ग-सम्पृद्ध बनाने का भी पूर्ण यत्न किया। उनके समय की 'सरस्वती' के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके दिल में विजातीय साहित्य के सुन्दर रत्नों के समाहार की उत्कट लालसा विद्यमान थी। प्रत्येक लेख के मुखबन्ध में प्रायः यही लिखा मिलता है कि 'अमुक लेख अमुक पत्र में अमुक विद्वान् ने लिखा है; हिन्दी के पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिए हम उसका आशय देते हैं।' द्विवेदी जी की 'बेकन-विचार-रत्नावली' (अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार बेकन के कुछ निबन्धों का हिन्दी अनुवाद) हिन्दी में विचारात्मक निबन्धों के अग्रदूत के रूप में उपस्थित हुई। इस प्रकार आपने एक ओर साहित्य-सरिता को कलुषित होने से बचाया, दूसरी ओर उसे नव-नवामृतजल से खूब परिपुष्ट भी किया।

इस काल के प्रमुख निबन्ध-लेखकों में से पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० चन्द्रधर गुलेरी, प्रो० पूर्णसिंह, श्री अयोध्यासिंह, श्री मिश्रबन्धु, रा० ब० डाक्टर श्यामसुन्दरदास, मु० देवीप्रसाद मुन्सिफ़, पं० जगन्नाथदास रत्नाकर, श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी, श्री द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामदास गौड़, श्री महेशचरणसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने विविध विषयों पर—पारिभाषिक, विचारात्मक, साहित्यिक, आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक विषयों पर—खूब लिखा है। सारांश यह कि इस काल में नवजात हिन्दी-निबन्ध-शिशु अपनी भाषा, कला, विषय-

वैविध्य एवं गुणगरिमा में क्रमशः संस्कृत होता हुआ अपनी बालसुलभ भावुकता—ऋतु, वन, पर्वत, पर्व, त्योहार और जीवन चरित आदि—का मोह छोड़ कर कुछ अधिक गम्भीर चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुआ और अपनी काया, अपने अङ्ग-लावण्य, सौन्दर्य और आकर्षण में भी विशेष वृद्धि को प्राप्त हुआ।

संक्रमण-काल (१९२०–१९५०)

अंग्रेजी राज्य के पदार्पण की पृष्ठभूमि में, पश्चिमी सभ्यता के संपर्क की प्रतिक्रिया के बीज से प्रस्फुटित, और भारतीयता के कट्टर पक्षपातियों और संस्कृतनिष्ठ विद्वानों की भावुकतामयी अमृतजल-राशि से सुसिञ्चित, एवं अंग्रेजी साहित्य के स्नातकों की पुनीत भावनाओं और अभिनव दृष्टिकोण का प्रकाश एवं आतप लेकर अङ्कुरित हुई हिन्दी निबन्ध-लतिका इस काल के वसन्त को पाकर पुष्पित एवं प्रफुल्लित दीखने लगी है। श्री भारतेन्दु ने जिसका ढाँचा खड़ा किया और पं० बालकृष्ण भट्ट ने जिसे गतिमान् बनाया और द्विवेदी जी की समर्थ तूलिका ने जिसकी वेष-भूषा और हाव-भाव का पूर्ण संस्कार किया, वही सुसंस्कृत निबन्ध इस काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मार्मिक चिन्तन के अभिनव तत्वों को अपने में समाविष्ट करके भाव और कला दोनों की दृष्टि से सुपरिष्कृत होकर साहित्य-गगन में संक्रमण करने लगा है। इस काल की खास विशेषताएँ ये हैं—

इस काल के लेखक 'प्राचीनता के मोह' को क्रमशः छोड़ रहे हैं, और 'नवीनता' के अनन्य भक्त बनते जा रहे हैं। पिछली पीढ़ी के कतिपय लेखकों को छोड़कर इस काल के प्रायः सभी युवक-लेखक पश्चिमायित दृष्टि रखते हैं और पश्चिम की भी समाजवादी विचार-धारा का उन पर गहरा प्रभाव दीखता है। निर्माणकालीन लेखकों का एकदम मध्ययुगीन दृष्टिकोण, संस्कार-काल में 'नवीनता' के आदर और संग्रह-भाव में परिणत हुआ था, परन्तु

इस काल में उसका झुकाव प्राचीनता से नाता तोड़ लेने की ओर हो रहा है। इस प्रकार पश्चिमी साहित्य का अत्यधिक प्रभाव और दृष्टिकोण का परिवर्तन इस युग की एक विशेषता है।

साथ ही, चिन्तन में मौलिकता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पुट भी इस काल की विशेषता है। संस्कार-काल में हिन्दी-निबन्ध जिस विचार-राशि से समृद्ध हुआ, वह प्रायः अन्य साहित्यों से माँगी हुई थी। उसमें कहीं अनुवाद और कहीं भावों की छाया स्पष्ट दीख रही है। इस काल के हिन्दी-निबन्ध में माँगे हुए भावों का कुछ-कुछ परिपाक और स्वतंत्र मौलिक चिन्तन की ओर भी प्रवृत्ति दीख रही है। निबन्ध के विषयों में भी अनेकरूपता और विविधता के दर्शन होते हैं। पहले जहाँ भारत के ही तीर्थों, वनों, पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों एवं ऋतुओं, त्योहारों और जीवन-चरितों के दर्शन होते थे, वहाँ इस काल में भारत से बाहर के विदेशों के भी प्राकृतिक दृश्यों, यात्राओं, विद्यालयों और महापुरुषों आदि के वर्णन मिलने लगे हैं। विचारात्मक निबन्धों का क्षेत्र भी विस्तृत हो रहा है। इनमें नागरिकता, राजनीति, समाजशास्त्र, साम्यवाद, इतिहास, दर्शन, विज्ञान के विविध अंग, अर्थशास्त्र आदि प्रायः सभी आधुनिक विषयों पर मार्मिक और स्वतंत्र लेख लिखे जाने लगे हैं। आलोचना के क्षेत्र में तो असाधारण प्रगति हो रही है। निर्माणकाल के अत्यधिक गुणगान या अनावश्यक दोषाविष्करण—खण्डन-मण्डन—की प्रारम्भिक अवस्था से निकल कर संस्कार-काल में आलोचना ने द्विवेदी जी के द्वारा निर्णयात्मक पद्धति का रूप धारण किया। मिश्रबन्धुओं ने इस में प्राचीन संस्कृत की रस-रीति आदि के निरूपण की शास्त्रीय प्रणाली का पुट देने का यत्न किया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक अध्ययन का अंश प्रविष्ट करके इसे भारी प्रेरणा दी। इस काल में आलोचना अपने और अधिक विकसित रूप में गम्भीर एवं संयत होकर व्याख्यात्मक प्रणाली पर आरूढ़ हो रही है। उसमें आलोच्य कृति

के रूपालोचन के साथ ही ऐतिहासिक पर्यालोक, सामाजिक पृष्ठभित्ति और सूक्ष्म मनोविश्लेषण के अंश भी सम्मिलित हो गये हैं। वस्तुतः यह युग ही आलोचना का युग है। साहित्य के विविध अंगों और उनके अनेक सूक्ष्म प्रत्यंगों पर नित्य नई आलोचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। भिन्न-भिन्न कलाकारों और कलाकृतियों पर स्वतन्त्र अध्ययन लिखे जा रहे हैं। इन तीस वर्षों में आलोचना-साहित्य ने अपने विस्तार और गरिमा में जितनी प्रगति की है, उतनी अन्य-विषयक निबन्धों ने नहीं की।

आलोचना के क्षेत्र में दो प्रधान धाराएँ चल रही हैं। इन्हें हम 'समन्वयवादी धारा' और 'प्रगतिवादी धारा' कह सकते हैं। ये दोनों ही पश्चिमी प्रभाव में पनप रही हैं। एक पर योरुप की १९वीं शताब्दी की विचारधारा का प्रभाव है और दूसरी पर २०वीं शताब्दी की। एक का झुकाव कला के आङ्गिक आलोचन की ओर अधिक है और दूसरी सामाजिक यथार्थवाद की ऐनक से सब कुछ देखती है। समन्वयवादी लेखक पौरस्त्य और पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय करके साहित्य-मीमांसन-कला को एक अभिनव रूप देने की चेष्टा में हैं। प्राचीन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का आलोड़न और आधुनिक दृष्टिकोण के साथ उसका मिलान समन्वयवादियों का ध्येय है। वे जातीय विकास में पश्चिम का समाहार पूरक के रूप में ग्रहण करते हैं। इधर प्रगतिवादी जातीय साहित्यधारा से कुछ उपराम से होकर समाजवादी दृष्टिकोण रखते हैं और उसका आरोप वे यहाँ के साहित्य और समाज पर पूरक के रूप में नहीं, प्रत्युत स्थानापन्न के रूप में करना चाहते हैं।

वस्तु-स्थिति यह है कि अब हिन्दी शनैः शनैः अंग्रेज़ी-शिक्षा-विभूषित विद्वानों के संपर्क में संक्रमण कर रही है। इसकी वेष-भूषा और हाव-भाव दोनों में अंग्रेज़ीपन अधिक होता जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-निबंध-कामिनी शुद्ध संस्कृत के पण्डितों के हाँ जन्म

लेकर, अंग्रेजी-संस्कृत के विद्वानों की गोदी में पलकर, अब, धीरे-धीरे केवल अंग्रेजी के आचार्यों की संरक्षकता में जा रही है और बाला-सुलभ स्वभाव के कारण अपने पितृकुल से नाता तोड़ कर पतिकुल में बसने लगी है। इस संक्रमण का एक वांछनीय शुभ परिणाम यह है कि अब हिन्दी में भी 'आधुनिक' विषयों पर मौलिक एवं मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत होने लगी हैं। राष्ट्रीय प्रतिभा—जिसकी अभिव्यञ्जना अभी तक अंग्रेजी के द्वारा ही होती रही है—अब हिन्दी को भी माध्यम के रूप में अपनाने लगी है। इससे जहाँ हिन्दी के पाठकों का दृष्टिकोण संकीर्णता से उदारता की ओर प्रसृति करने लगा है, वहाँ स्वयं हिन्दी-साहित्य भी अभिनव विचार-राशि के समाहार के द्वारा अपनी नानारूपता, गरिमा और गम्भीरता में यथेष्ट प्रगति करके खूब प्रफुल्लित और सम्पन्न हो रहा है।

वस्तुतः यह संक्रमण अत्यंत स्वाभाविक और अपेक्षित भी है। हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने का अर्थ ही यह है कि इसके द्वारा समूचे राष्ट्र की साहित्यिक, राजनैतिक, व्यावहारिक, सामाजिक तथा अन्य विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारु रूप से हो सके। 'प्रौढ़काल' के स्वागत के लिए भी यह संक्रमण नितांत आवश्यक है। बाला नहीं, अपितु प्रौढ़ा हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के उत्तरदायित्व को सम्हाल सकेगी।

—रघुनन्दन

विचार और विमर्श

जो
औ
सँ
प्रा
पा
नि
कां
श्र
कि
जा

श्रा
वह
मह
उस

दि
वि
उन
वे

स्वयंवह यंत्र

(श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

नई चाल की घड़ियों के प्रचार से ठीक समय जानने में लोगों को बहुत सुभीता हो गया है। ये घड़ियाँ पहले-पहल योरुप में बनी थीं और वहीं से हिन्दुस्तान में आईं। इनका प्रचार हुए सौ-डेढ़-सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। परन्तु इसके पहले अथवा प्राचीन काल में भी निश्चित समय जानने का साधन लोगों के पास अवश्य था। जिस यंत्र के द्वारा प्राचीन काल के लोग समय निश्चित कर सकते थे, उसका नाम स्वयंवह यंत्र था। यह यंत्र कई प्रकार का होता था। केवल भारतवर्ष ही में नहीं, किन्तु अन्यान्य देशों में भी लोग इसको काम में लाते थे। सुनते हैं कि कहीं-कहीं अब भी समय देखने का काम इसी यंत्र से लिया जाता है।

कई वर्ष हुए, राजशाही में वङ्ग-साहित्य-परिषद् का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। उसमें अध्यापक योगेशचन्द्रराय ने स्वयंवह यंत्रों के विषय में एक लेख पढ़ा था। उस लेख में अध्यापक महाशय ने कितनी ही उपयोगी और ज्ञातव्य बातें कही हैं। इसलिए उसका भावार्थ आज हम पाठकों को सुनाते हैं।

काल का स्रोत बहता चला जा रहा है। प्राचीन काल के लोग दिन में सूर्य को और रात्रि में ताराओं को देखकर इस स्रोत का विभाग करते थे। परन्तु दिन-रात के काल भी छोटे नहीं होते; उनके विभाग की भी तो आवश्यकता पड़ती है। इस काम को वे वृक्ष, डण्डा या अपनी देह की छाया से करते थे।

परन्तु छाया भी सूर्यसापेक्ष है; अर्थात् बिना सूर्य के छाया नहीं हो सकती। जिस दिन मेघों ने कृपा की, उस दिन समय देखना दु:साध्य हुआ। इसी कठिनता को दूर करने के लिए ताम्री या घटी का प्रचलन हुआ था। तांबे के घड़े के नीचेवाले भाग से घटी-यंत्र बनाया जाता था। घड़े के पेंदे में बहुत छोटा-सा छेद होता था। घड़ा पानी के ऊपर रख दिया जाता था। पानी धीरे-धीरे घड़े में भरने लगता था। यहाँ तक कि कुछ देर में वह डूब जाता था। घड़ा इतना बड़ा बनाया जाता था जिसमें वह दिन-रात में आठ बार डूब सके। जितने समय में घड़ा पानी में एक बार डूब जाता था उतने समय को लोग घड़ी, घटी या घटिका कहते थे। घड़े में सात 'पल' तक पानी भर सकता था। इसीलिए एक घड़ी में सात पल माने गए थे। ऋग्वेदाङ्ग ज्योतिष में घटी के बदले प्रस्थ शब्द आया है। विष्णुपुराण में भी प्रस्थ-संज्ञा आई है। जल, तेल आदि प्रवाही पदार्थ जिस पात्र के द्वारा नापे जाते थे, उसे लोग प्रस्थ कहते थे। इससे जान पड़ता है कि हमारे देश में घटी-यंत्र का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से है।

परन्तु जिस यंत्र के द्वारा काल-ज्ञान होने के लिए लोगों को बैठे रहना पड़े, वह सब के व्यवहार-योग्य कभी नहीं हो सकता। इसीलिए लल्ल आदि ज्योतिषियों ने अपनी इच्छा के अनुसार घटी बनाने की सलाह दी है। ब्रह्मगुप्त ने, जो ईसा की सातवीं शताब्दी में वर्तमान थे, एक अन्य प्रकार के घटी-यंत्र का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि एक नलक (शीशे का पात्र) बनाना चाहिए। उसके नीचे एक छेद करके उसे पानी से भर देना चाहिए। बहता हुआ पानी जितना-जितना कम होकर एक-एक घड़ी में नल के जिस-जिस स्थान पर पहुँचता जाय, उसी-उसी स्थान पर अङ्क लगा देने चाहिएँ। इससे सहज ही में काल-ज्ञान हो सकता है। परन्तु नाड़िका-यंत्र में यह असुविधा नहीं है। मालूम

होता है कि इस नाड़िका-यंत्र के नाम ही से घटी या घड़ी का नाम नाड़ी या नाड़िका पड़ा है।

केवल इसी देश में नहीं, किन्तु प्राचीन मिस्र, बेबीलोनिया, यूनान और योरुप के अन्यान्य देशों में भी जल-स्राव देखकर समय जानने की रीति प्रचलित थी। प्राचीन काल ही में क्यों, ईसा की सोलहवीं शताब्दी में डेनमार्क देश के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् तापकोब्राहि की वेधशाला में जल-घड़ी के द्वारा काल का परिमाण जाना जाता था। चीन और भारतवर्ष में अब भी इसका रिवाज है।

पर, हम लोगों की ताम्री (घटी) और योरुप की जल-घड़ी में एक भेद है। वह यह कि इस देश की ताम्री में जल-प्रवेश देख कर और योरुप में उससे जल-निस्सरण देख कर काल-ज्ञान होता था। छेद के द्वारा किसी बर्तन से परिमित जल निकलने में सदा एक-सा समय नहीं लगता; क्योंकि बर्तन में पानी जितना ही कम होता जायगा, पानी के बहने का वेग भी उतना ही कम होता जायगा। इसलिए जल-पात्र को सदा जलपूर्ण रखना पड़ता था।

इन दोनों में और भी भेद है। यूनानी लोग सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक दिन मानते थे। उसे वे बारह भागों में विभक्त करते थे। वैसे एक भाग का नाम घण्टा था। इसलिए गर्मी में उनका घण्टा बड़ा और जाड़ों में छोटा होता था। ऐसी असमान-समय-ज्ञापक जल-घड़ी बनाना सहज काम न था। हमारे यहाँ यह असुविधा न थी।

पूर्वकाल में नाड़िका-यंत्र से जल-स्राव के द्वारा नाना प्रकार के यंत्र चल सकते थे। लल्ल, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि प्रसिद्ध प्राचीन ज्योतिषियों ने ऐसे कितने ही यंत्रों का वर्णन किया है। महामहोपाध्याय सामन्त चन्द्रशेखरसिंह ने भी एक ऐसे ही यंत्र की रचना की है। जो यंत्र आप-ही-आप घूमे अथवा जिसे कोई

मनुष्य न चलावे, उसे प्राचीन काल के लोग स्वयंवह यंत्र कहते थे। सामन्त महाशय ने अपना स्वयंवह यंत्र अपनी बुद्धि के बल पर बनाया है; किसी ग्रन्थ के सहारे नहीं। उनके यंत्र का एक चक्र दो आधारों पर स्थिर रहता है। चक्र के घेरे में एक डोरा लिपटा रहता है। डोरे का एक सिरा चक्र से बँधा रहता है और दूसरे सिरे में पारायुक्त एक गोलक बँधा रहता है। यह गोलक एक बड़े जलकुण्ड में तैरा करता है। कुण्ड का पानी जैसे-जैसे बहता जाता है, वैसे-ही-वैसे गोलक भी नीचे गिरता जाता है। साथ ही धागा बधा हुआ चक्र भी धीरे-धीरे घूमता जाता है।

किसी चीज़ के हिलने से सम्बन्ध रखने वाली अन्य चीजें भी हिलने लगती हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने नाड़िका-यंत्र की सहायता से ग्रहों और नक्षत्रों का चक्र तक घुमा डाला था। आजकल के विद्यालयों में विलायती "ओरेरी" यंत्र जैसा होता है, प्राचीन-काल में गोलक-यंत्र भी वैसा ही था। वह जल-स्राव के द्वारा घूमता था। इसलिए उसमें बड़े भारी शिल्प-नैपुण्य की आवश्यकता थी। उसके द्वारा लग्नों आदि का भी ज्ञान हो सकता था।

हम यह कह आये हैं कि लल्ल और ब्रह्मगुप्त ने बहुत-से काल-ज्ञापक यंत्रों का उल्लेख किया है। उनमें से एक नर-यंत्र भी है। एक मनुष्य-मूर्ति के मध्य भाग से लेकर मुँह तक एक सूराख़ होता है। उसके पेट में डोरी की एक पिंडी रक्खी रहती है। डोरी का एक सिरा सूराख़ से होते हुए और मुँह में लगी हुई नली को पार करते हुए बाहर आकर लटकता है। उसी सिरे में पारायुक्त एक गोलक बँधा रहता है। यह गोलक एक कुंड के पानी पर तैरा करता है। कुंड से जल जितना ही बहता जायगा मनुष्य-मूर्ति के मुँह से उतनी ही डोरी निकलती आवेगी। एक-

एक दण्ड में डोरी जितनी-जितनी बाहर निकलती है, उतनी-ही-उतनी दूर पर उसमें गाँठें लगी रहती हैं। एक दण्ड में एक गाँठ, दो में दो गाँठें और तीन में तीन गाँठें बाहर होती हैं। जिस समय जितनी गाँठें बाहर निकलती हैं, उस समय उतने ही दंड बीत चुके यह बात लोग देखते ही समझ जाते हैं।

इस प्रकार के किसी यंत्र में एक नर-मूर्ति दूसरी नर-मूर्ति के मुह पर पानी फेंकती है; किसी यंत्र में वह अपने मुँह से वधू के मुँह पर गुटिका फेंकती है; किसी यंत्र में दो मनुष्य मल्ल-युद्ध करते हैं; किसी में मोर साँप को निगलता है; किसी में मुगरी घंटे पर पड़ती है; इत्यादि। इन सब कौतुक-जनक यंत्रों का उद्देश्य काल-ज्ञापन के सिवा और कुछ न था। आजकल जैसे विलायती घड़ियों में नर-नारियों की मूर्तियाँ अपने विशेष अङ्ग चलाकर लोगों को विस्मित करती हैं, वैसे ही प्राचीन समय में जल-घड़ियाँ भी करती थीं। आजकल की तरह प्राचीन काल में भी घंटे बजते थे।

कहते हैं कि प्राचीन काल में अलेग्ज़ांड्रिया के किसी ज्योतिषी ने कुंड से जल बहा कर एक घटाङ्कित चक्र चलाया था। ईसा की छठी शताब्दी में कुस्तुनतुनिया नगर में किसी ने एक ऐसा यंत्र बनाया था जिसमें एक से लेकर बारह तक बजते थे। नवीं शताब्दी में सम्राट् शार्लमैन ने फ़ारिस के बादशाह को एक जल-घड़ी उपहार में भेजी थी। उसमें बारहों घंटे प्रकट करने के लिए बारह द्वार थे। एक-एक घंटे में एक-एक दरवाज़ा खुलता था और जितना बजा होता था, उतनी ही गुटिकाएँ निकल-निकल कर एक ढोल पर पड़तीं और उसे बजाती थीं।

शिल्पकार का मन एक ही विषय में सीमाबद्ध नहीं रहता। जो एक यंत्र का आविष्कार कर सकता है, वह कभी-कभी अन्य यंत्र भी बना सकता है। प्राचीन आर्यों ने पारा, जल, तेल इत्यादि

की सहायता से चक्र चलाने की चेष्टा की थी। ऐसे स्वयंवह-यंत्र का उल्लेख पहले-पहल लल्ल ने छठी शताब्दी में किया है। उनके बाद ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य (बारहवीं शताब्दी) ने भी भिन्न प्रकार से उसी का वर्णन किया है। आगे हम भास्कर के यंत्र-वर्णन का मतलब देते हैं।

पहले बिना गाँठ और कील के काठ का एक छोटा-सा चक्र भ्रम-यंत्र से बनाना चाहिए। इसके बाद उसके घेरे में एक ही नाप के, एक-ही-से छेद वाले और एक-ही-से गुरुत्व के आरे लगाने चाहिएँ। ये सब आरे नदी के आवर्त के सदृश एक ही ओर कुछ-कुछ झुके हों। आरों के आधे अंश में पारा भर कर उनके छेदों को बन्द कर देना चाहिए। ऐसा चक्र दो आधारों पर स्थित करने पर आप-ही-आप घूमेगा, क्योंकि यंत्र के एक ओर पारा आरों के मूल में और दूसरी ओर आरों के सिरे पर दौड़ेगा। शेषोक्त आरे के पारे के आकर्षण से चक्र आप-ही-आप घूमेगा।

परन्तु यह है क्या व्यापार? क्या यह सदावह-यंत्र है, जिसकी निन्दा आधुनिक वैज्ञानिकों ने जी खोल कर की है? या इसमें और भी कोई गुप्त बात है? स्वयंवह-यंत्र का रहस्य कहीं खुल न जाय, इस आशङ्का से सूर्यसिद्धान्त में उसे गुप्त रखने के लिए शिष्य को बार-बार ताकीद की गई है। शिल्प-कौशल प्रकाशित हो जाने का जिन्हें इतना डर है, वे अवश्य ही कोई बात खोल कर नहीं कह सकते। इसीलिए उन्होंने कहा है कि पारे, जल और तेल आदि का प्रयोग जानना मुश्किल काम है। भास्कर के टीकाकार रङ्गनाथ, जो सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं, कहते हैं— "स्वयंवह-यंत्र एक असाधारण चीज़ है। मनुष्य के लिए उसका बनाना असाध्य है। इसीलिए वह दुर्लभ है। यदि ऐसा न होता तो वह प्रत्येक घर में पाया जाता। समुद्र-पारवासी फ़िरङ्गियों को

स्वयंवह विद्या में अच्छा अभ्यास है। वह कुहक-विद्या के अन्तर्गत है।"

अच्छा, यह कुहक-विद्या क्या चीज़ है ? क्या कुहक की तरह स्वयंवह-विद्या भी गुप्त है ? वर्णन करने के ढंग से तो जान पड़ता है कि स्वयंवह-यंत्र योरुप के सदावह-आवर्त-चक्र से मिलता-जुलता है। उसमें यह माना गया है कि चक्र आवर्त्ताकार आरों की गोलियों के भार से घूमता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार चक्र घूमना असम्भव है।

भास्कर ने अन्य दो प्रकार के स्वयंवह-यंत्रों का भी वर्णन किया है। इन दोनों का वर्णन ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में नहीं है। एक का वर्णन सुनिए। श्रम-यंत्र के द्वारा चक्र के घेरे में दो अंगुल गहरी और दो अंगुल चौड़ी एक नली बनाकर उसे दो आधारों पर रक्खो। नली के ऊपर ताड़ के पत्ते मोम से जोड़ दो। इसके बाद ताड़ के पत्ते में छेद करके नली में पारा भर दो। फिर दूसरी जगह छेद करके नली के एक ओर पानी भरो। तब छेद बन्द कर दो। बस, जल से आकृष्ट चक्र आप-ही-आप घूमेगा। पारा द्रव होने पर भी भारी होता है, इसलिए जल उसे हटा न सकेगा।

क्या इसका यह मतलब है कि पारा नीचे ही रहेगा; जल पारे को ठेलेगा, इससे चक्र घूमेगा ? यदि यही अर्थ ठीक हो, तो काल्पनिक सदावह-यंत्र का यह एक अच्छा नमूना है।

इस काल्पनिक यंत्र के साथ बीसवीं शताब्दी के इँगलैंड के एक सदावह-यंत्र की तुलना कीजिए। एक कुंड में पारा है और कुंड की दाहिनी तरफ़ एक नल में जल है। पारावाले कुंड के ऊपर एक चक्र है और भीतर भी एक चक्र है। एक सूत्र दोनों चक्रों को वेष्टन किये हुए है। सूत्र में छोटी-छोटी गाँटें-सी हैं। वे पानी में उतरा कर ऊपर उठेंगी। इसके साथ ही दोनों चक्र भी घूमेंगे।

भास्कराचार्य के एक और भी स्वयंवह-यंत्र का वर्णन सुनिए—एक चक्र के घेरे में घटियाँ बँधी हुई हैं। इस चक्र को दो आधारों पर रखिए। ताम्रादि धातु से बने हुए अंकुश के आकार के एक नल से कुंड का जल घटियों में जायगा। तब भरी हुई घटियों से आकृष्ट होकर चक्र घूमने लगेगा। चक्र से घिरा हुआ जल यदि चक्र के नीचे की नली के द्वारा फिर कुंड में चला जाय तो कुंड में फिर जल भरने की आवश्यकता न रहेगी।

यहाँ पर भास्कराचार्य ने टेढ़े आकार के अंकुश-यंत्र या "कुक्कुट-नाड़ी" का प्रयोग बतलाया है। छिन्न कमल या कमलिनी की नाल से उन्होंने कुक्कुट-नाड़ी का दृष्टान्त भी दिया है। उन्होंने कहा है कि इस कुक्कुट-नाड़ी को शिल्पी लोग अच्छी तरह जानते हैं—"चक्रच्युतं तदुदकं कुण्डे याति प्रणालिकया"—कह कर उन्होंने नीचे का जल ऊपर जाने की सम्भावना की है। योरुप में आजकल भी ऐसे यंत्र पाये जाते हैं।

भास्कराचार्य स्वयंवह-यंत्र को खिलौने की तरह समझते थे। इसीलिए लल्ल और ब्रह्मगुप्त के स्वयंवह-यंत्रों को ग्राम्य कह कर उन्होंने उनकी निन्दा की है। क्योंकि वे सापेक्ष हैं अर्थात् जल न रहने पर फिर उनमें जल डालना पड़ता है। जिस यंत्र में कोई चमत्कारिणी युक्ति हो, वह भास्कर की राय में ग्राम्य नहीं।

पूर्वोक्त बातों से मालूम हुआ कि प्राचीन काल के लोग स्वयंवह-यंत्र उसे कहते थे, जिसे चलाने के लिए किसी मनुष्य की आवश्यकता न पड़े और जो एक बार चलाने पर बराबर चलता रहे। अर्थात् स्वयंवह को वे सदावह भी बनाना चाहते थे। आधुनिक विज्ञान की राय है कि कोई चीज़ सदा नहीं चल सकती। जिस यंत्र में जितनी शक्ति होती है, उतनी ही बनी रहती है, घटती-बढ़ती नहीं। पूर्व काल के लोग (केवल इसी देश के नहीं, किन्तु योरुप के भी) समझते थे कि चक्र और दंड के

योग से मनमाने काम लिये जा सकते हैं। प्रकृति ने अपने रहस्यों को गुप्त रक्खा है। हम नित्य देखते हैं कि नदी बहती है, हवा चलती है, वृक्षों में फल लगते हैं, आकाश में मेघ आते हैं। किसी काम में विराम नहीं। आकर्षण, विकर्षण, सङ्कोचन, प्रसारण, संसक्ति और आसक्ति तथा समस्त आणविक क्रियाएँ गुप्त बल का बाह्य विकाश हैं। कुछ भी हो, आधुनिक विज्ञान स्पष्ट कह रहा है कि चाहे जो शक्ति काम करे, उसका परिणाम विराम ही है; किसी समय वह जरूर ही बन्द हो जायगी। हमारी देह, जो अपना जीर्णोद्धार आप ही करती है, कैसे कौशल से बनाई गई है, परन्तु उसके कामों का भी विराम है। फिर मानव-रचित यंत्रों का विराम क्यों न होगा? आधुनिक विज्ञान के उन्नायक योरुप और अमेरिका में भी लोग सदावह-यंत्र के आविष्कार-प्रलोभन में अब तक फँसते जाते हैं।

वर्तमान विज्ञान से प्राचीन विज्ञान की तुलना करना ठीक नहीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि किसी-किसी पाश्चात्य पण्डित ने सूर्य-सिद्धान्त में स्वयंवह का नाम देखकर ही प्राचीन आर्यों की ज्ञान-गरिमा की दिल्लगी उड़ाई है। परन्तु ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे आप समझ सकते हैं कि सब स्वयंवह-यंत्र एक ही तत्व पर नहीं निर्मित हुए। प्राचीन आर्यों की प्रशंसा इस बात की करनी चाहिए कि उन्होंने जल-चक्र का निर्माण करके उसके द्वारा गति सम्पादन की। विलायती क्लाक-घड़ी को जिस तरह स्वयंवह नहीं कह सकते, उसी तरह भास्कर के स्वयंवह यंत्रों को भी स्वयंवह नहीं मान सकते। गुरु-द्रव्य की निम्न-गति के द्वारा चक्र-भ्रमण कराना ही समस्त स्वयंवह-यंत्रों का मूल तत्व है। सत्रहवीं शताब्दी में हाइगेन्स नामक एक विद्वान् ने दोलक (Pendulum) प्रयोग कर क्लाक-घड़ी को सच्चा कालमान-यंत्र बनाया। यदि हम प्राचीन आर्यों को बिना दोलक की 'क्लाक' का आविष्कर्ता कहें तो

अनुचित नहीं। कौन कह सकता है कि क्लाक-घड़ी का मूल-सूत्र इस देश से विदेश नहीं गया।*

बड़े अफ़सोस की बात है कि डेढ़ हज़ार वर्ष पहले जिस ज्ञान और जिस प्रयोग-कुशलता की इस देश में इतनी प्रचुरता थी; उसका क्रमशः विकाश नहीं हुआ। वर्तमान काल में तो उल्टा उसका लोप हो गया है। जल-प्रवाह में जो शक्ति छिपी है, उसे प्राचीन काल के लोग अच्छी तरह जानते थे। परन्तु हम लोग आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की सहायता पाकर भी, प्रयोग-कुशल शिल्पी नहीं बन सके। हमारी सुजला भारत-भूमि की खेती जब सूखने लगती है, तब, हा अन्न! हा अन्न! कह कर हम लोग चिल्लाने लगते हैं; विपत्ति-निवारण का कुछ उपाय नहीं करते। हम जानते हैं कि वायु चलती है, परन्तु उसमें जो शक्ति सञ्चित है, उससे कार्य-सिद्धि का मार्ग हमें नहीं सूझ पड़ता। यदि सूर्य भगवान् हमारे समान अपात्रों के देश में इतना ताप वितरण न करते तो अच्छा होता; क्योंकि हम लोग ऐसे दान का भोग नहीं जानते। रामायण में लिखा है कि इन्द्र, वरुण, पवन, अग्नि आदि को रावण ने अपना दास बना रक्खा था; पर हम इस बात को जानकर भी अजान बने बैठे हैं।

---

* "He (Waltherus) is also the first astronomer who used clocks moved by weights for the purpose of measuring time. These pieces of mechanism were introduced originally from eastern countries.',

—Grant's History of Physical Astronomy.

गाँधीवाद : समाजवाद

(डा० पट्टाभिसीतारामैय्या)

समय-समय पर नये विचारों के प्रयोगों द्वारा दुनिया के इतिहास का निर्माण हुआ है। हरेक देश का एक प्रधान सुर रहा है, जो उसके अब तक के राष्ट्रीय जीवन की धाराओं क असलियत मालूम करने के लिए कुंजी का काम देता है। हम यह भी देखते हैं कि एक देश तथा युग-विशेष में प्रचलित विचार और आदर्श दूसरे देशों और युगों में बड़ी तेज़ी के साथ फैले हैं। अन्तर इतना ही रहा कि एक जगह के सभी भले-बुरे संयोगों का दूसरी जगह सामना नहीं करना पड़ा। आज के ज़माने में भी हम देखते हैं कि विभिन्न देशों और महाद्वीपों में रहनेवाले लोगों की भावनाओं और विचारों में किस क़दर विचित्रतापूर्ण और शीघ्रगामी परिवर्तन हो रहे हैं। हमारी आँखों के आगे उदाहरण इतने अधिक और इतने स्पष्ट हैं कि उनको गिनाने अथवा उनकी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं मालूम देती।

किन्तु, इनमें से हम एक विचार की चर्चा करेंगे, जिस का हमारे उद्देश्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। एक ज़माने में समाजवाद नास्तिकता अथवा दिमाग़ी फ़तूर तक समझा जाता था। उसके आक्रमणों से अपनी सम्मानित और परम्परागत संस्थाओं की रक्षा करने के लिए विभिन्न देशों ने तरह-तरह के उपायों की योजना की। इस प्रकार वे केवल उसके आदर्शों की तीव्रता को कम कर सके, किन्तु उसकी लहर के प्रवाह को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सका। एक ओर इंगलैंड में समाजवाद का विचार एक उदार विचार रहा है, जो समाज और अर्थ-व्यवस्था के पुराने आधार पर हावी होने के बजाय प्रायः खुद उसका शिकार हो गया है। अवश्य ही उसका अंग्रेज़-समाज

पर असर पड़ा है, किन्तु यह कोई नहीं कहेगा कि अंग्रेज़ जाति की अर्थ-नीति अथवा उसके राजनैतिक सिद्धान्त सम्पूर्णतः बदल गये हैं। दूसरी ओर रूस में समाजवाद के सिद्धान्तों पर पूरी तरह अमल किया गया है। उसके फलस्वरूप वहाँ के हालात में जो आकस्मिक और ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ है, उसके असर, ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी जाने के बावजूद, दुनिया के कोने-कोने में पहुँच गये हैं।

इस प्रकार, जैसा कि बरट्रेंड रसल खुद स्वीकार करते हैं, इंगलैंड में समाजवाद की ओर झुकाव रहा, किन्तु उसे एक निश्चित ध्येय के तौर पर नहीं माना गया। वहाँ खुद मज़दूर-आन्दोलन का राजनैतिक दलबन्दी के आधार के अलावा कोई खास विरोध नहीं हुआ, हालाँकि वह समाजवादी दृष्टिकोण रखने का दावा करता है। निस्सन्देह समाजवाद ने शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाई है और उन लोगों के लिए बौद्धिक और राजनैतिक सुविधाएँ सुलभ कर दी हैं जो अब तक दिल और दिमाग़ से शून्य केवल हाथ से श्रम करनेवाले मज़दूर समझे जाते थे। इसके अलावा उसने कुछ रचनात्मक प्रसन्नता का भी संचार किया है, किन्तु इसके बाद उसकी गति रुक गई। वह न तो बेकारों को ज्यादा आशा का संदेश दे सका और न बाकारों को ज्यादा सुख पहुँचा सका। पश्चिम में राजकीय समाजवाद की ओर झुकाव बढ़ रहा है; किन्तु इस दशा में भी सिर्फ़ मालिक ही बदलते हैं। मज़दूर तो फिर भी ग़ुलामी ही करता है। यह ठीक ही कहा गया है कि आत्म-प्रेरणा की मात्रा में वृद्धि होने के बजाय उससे केवल पारस्परिक हस्तक्षेप बढ़ता है। हर हालत में समाजवाद की सभी समय-साधक योजनाओं में श्रमिक को अपने काम में उस गौरव और प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता जिसकी वह आकांक्षा रखता है। सहयोग-आन्दोलन; श्रमिक संघवाद अथवा

राजकीय समाजवाद आदि सभी के बारे में यही बात कही जा सकती है। ये विभिन्न समाजवादी योजनाएँ हैं जो पश्चिम में पूँजीवाद की बुराइयों का मुकाबला करने के लिए खड़ी की गई हैं।

अब यह भली प्रकार से और आमतौर पर मालूम हो चुका है कि पश्चिम में परिस्थितियों का जो समूह लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का नियंत्रण करता है, उसके विरुद्ध प्रति-क्रिया-स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। सम्पत्ति और उत्तराधिकार विषयक कानूनों ने, जो परिवार में सब-से-बड़े लड़के का ही अधिकार स्वीकार करते हैं; नौजवानों का एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया है जिसमें परिवारों के सब-से-बड़े लड़के शामिल हैं। वे ऐशो-आराम करते हैं; पूँजी के उपयोग द्वारा अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं और शोषण तथा साम्राज्य निर्माण करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। उनके पास खूब सारी दौलत होती है और महत्वाकांक्षा की भी कमी नहीं होती। इसके विपरीत छुट-भय्यों को समाज में खुला छोड़ दिया जाता है। ये लोग अपने धनी और महत्वाकांक्षी बड़-भय्यों की शोषण-योजनाओं को कार्य-रूप देने के लिए कारगर एजेण्ट सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार कुलीन लोगों का एक छोटा वर्ग और आम लोगों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आया है। दूसरे शब्दों में ये दोनों वर्ग पूँजीवादी और उद्योगवादी प्रणाली के एक ही चित्र के दो पहलू हैं। वास्तव में ये देश की समाज-व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिणाम हैं।

इंगलैंड में उद्योगवाद की बुराइयों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने इतना अरुचिकर रूप धारण नहीं किया, किन्तु योरुप के अन्य राष्ट्रों ने कम कट्टर अथवा अधिक उग्र संहारक तरीके अख्तियार किये हैं। हिटलर ने समाजवाद के साथ शुरुआत की

और उचित सुधारों के साथ उद्योगवाद की गति तेज़ करने के लिए तानाशाही हुकूमत की स्थापना की। इटली ने राजतंत्र की ओट में जो मार्ग ग्रहण किया, वह तानाशाही से कुछ ज्यादा भिन्न नहीं है, किन्तु वहाँ की संस्थाओं ने हिंसा को उस हद तक नहीं अपनाया जिस हद तक हिटलरवाद ने अपनाया है। रूस ने एक क़दम और आगे बढ़कर ज़ार और उसके परिवार को मौत के घाट उतार दिया; निजी सम्पत्ति और निजी विदेशी व्यापार को उठा दिया और उस दल के द्वारा शासन चला रहा है जिसकी सदस्य-संख्या कुल आबादी का सौवाँ हिस्सा भी नहीं है। हाँ, रूस का उद्देश्य अपने-आपको स्वावलम्बी बनाना है, और इसके लिए उसने उद्योगवाद को उसकी बुराइयाँ दूर करते हुए अपनाया है। इस प्रकार हर उदाहरण में, बीसवीं शताब्दी में योरुप के विभिन्न राष्ट्रों की सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों में जो परिवर्तन हुए हैं, वे उन देशों में प्रचलित पुरानी प्रणालियों के प्रत्यक्ष परिणाम हैं; इतना ही नहीं, उनको प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। लोगों ने लम्बे अर्से तक सहन किया और खूब सहन किया, और अब उसके विरुद्ध विद्रोही बन गये हैं।

इन बातों से मालूम होगा कि प्रत्येक देश में जहाँ समाजवाद ने या उससे सम्बन्धित और किसी वाद ने सिर उठाया है, वहाँ, प्रत्यक्षतः सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही ऐसा हुआ है। बहुत-से स्थानों में निराशा के भीतर से आन्दोलन पैदा हुआ और लोगों के असन्तोष ने अमुक आदर्शवाद से प्रेरित होकर श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था और आर्थिक संगठन की रचना की, जिसकी कल्पना आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में सम्भवतः मुश्किल से ही किसी ने की हो। हिन्दुस्तान में भी सर्वत्र इसी प्रकार का असन्तोष विद्यमान है। इसलिए सरल आलोचक की निगाह में वही उपाय तत्काल आ जाते हैं जिनको पश्चिमी राष्ट्रों ने

अपनाया है।

किन्तु, यदि हम अपने यहाँ के हालात पर कुछ विस्तार के साथ ग़ौर करें; तो यह मालूम करना मुश्किल न होगा कि पश्चिम की इन परिस्थितियों में, जिनके कारण वहाँ विद्रोह की हल-चलें शुरू हुईं और पूर्व अर्थात् हिन्दुस्तान की परिस्थितियों में व्यापक और मौलिक भेद हैं। हमारे देश में पश्चिम-सरीखा उद्योगवाद नहीं है। आख़िर सारे हिन्दुस्तान के शहरों में कल-कारख़ानों से सम्बन्धित जन-संख्या १५ लाख ही तो है। और हमारी कुल आबादी ३५ करोड़ है, जिसमें से प्रायः नौ-दसांश लोग खेती के धन्धे पर निर्वाह करते हैं। बम्बई के मज़दूर भी अंशतः खेतीहर आबादी में से निकले हुए हैं। वे आस-पास के गाँवों से वहाँ इकट्ठे हो गये हैं। ह्विटले कमीशन ने इस प्रकार के मिश्रित शिक्षण के लाभ को महसूस किया है; हालाँकि विशुद्ध औद्योगिक दृष्टिकोण से यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की व्यवस्था दुधारी तलवार का काम देती है।

कुछ भी हो; यह सत्य है कि नौ-दसांश लोग अब भी गाँवों में रहते हैं। उनकी किस्मत अपने गाँवों के साथ गुँथी हुई है। वस्तुस्थिति यह होने पर भी राजनैतिक क्षितिज पर शहरों की समस्याएँ ही निस्सन्देह ज्यादा अंकित होती हैं। किन्तु जब नये आन्दोलन जारी किये जा रहे हैं, यह अच्छा होगा कि हम ज्यादा-तर अपनी आँखों के आगे आनेवाले दृश्यों के साथ बह जाने के बजाय स्थिति की वास्तविकताओं को भी समझ लें। बुद्धिमान् आलोचक समाज की परिस्थितियों का अध्ययन करेगा और इस बात का खुद ही निर्णय करेगा कि जो इलाज बताया जाता है, वह वर्तमान परिस्थितियों के कहाँ तक अनुकूल है।

हम देख चुके हैं कि पश्चिम में किस प्रकार उद्योगवाद का असर लोगों पर क्रमशः कमज़ोर होता गया है। दो राष्ट्रों ने, जो

उसके सबसे ख़राब पुजारी रहे हैं—अर्थात् इंगलैंड और जर्मनी ने, कटु अनुभव के बाद यह महसूस किया कि हमेशा के लिए आयात की अपेक्षा विदेशी निर्यात पर निर्भर रहना असम्भव होगा। जहाँ तक इन देशों का सम्बन्ध है, निर्यात तैयार माल का होता है और आयात कच्चे माल और खाद्य-सामग्री का होता है। यदि औद्योगिक मनोवृत्ति रखनेवाला हरेक राष्ट्र उद्योगवाद के सिद्धान्त पर चलकर समृद्ध होना चाहे, तो उसको हमेशा अपना तैयार माल दूसरे देशों को भेजना होगा। किन्तु न केवल स्वावलम्बी होने की, बल्कि निर्यात करने की वही लगन दूसरे राष्ट्रों पर भी हावी हो सकती है। उस दशा में सतत प्रतिस्पर्धा का क्रम शुरू हो जायगा और हरेक राष्ट्र ज्यादा-से-ज्यादा बेचना और कम-से कम ख़रीदना पसन्द करेगा। जब सभी राष्ट्रों की ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है, तो उनको बाज़ार नहीं मिलते और उन्हें दूसरी निर्बल जातियों का शोषण शुरू करना पड़ता है।

अब तक पश्चिमी राष्ट्रों के लिए पूर्व शोषण का अच्छा क्षेत्र रहा है। किन्तु जब जापान पश्चिम के सर्वोपरि औद्योगिक राष्ट्रों का सफलतापूर्वक मुक़ाबिला करने लगा है, जब चीन युगों की शिथिलता छोड़ चुका है और हिन्दुस्तान में नवीन राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित हो रही है, जब अफ़ग़ानिस्तान प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ क़दम बढ़ा रहा है, फ़िलस्तीन और सीरिया पश्चिम के हाल के आक्रमणों से बचकर तेज़ी से उठ रहे हैं और जब तुर्किस्तान योरुप का बीमार और मिश्र विदेशी राष्ट्रों का खिलौना नहीं रहा, तब यह कहा जा सकता है कि ंगलैंड और जर्मनी के लिए शोषण का क्षेत्र कम से कम रह गया है। सौभाग्य से फ्राँस इस स्थिति में है कि वह अपनी औद्योगिक और कृषि की पैदावार का संतुलन कर सकता है। इटली औद्योगिक की अपेक्षा कृषि-प्रधान देश अधिक है। वह भी उन क्षेत्रों में स्वावलम्बी बनने की तेज़ी

के साथ कोशिश कर रहा है, जिनमें वह पिछड़ा हुआ था।

इन सब से रूस का उदाहरण भिन्न है। उसने अकेले और सफलतापूर्वक लड़ाई लड़ी है। उसने उत्पादन की ज़बरदस्त योजना बनाकर अपनी सब ज़रूरतें स्वयं ही पूरी की हैं। उसने न केवल कल-कारख़ाने ही बनाये; विशाल धौंकनियाँ और भट्ठियाँ ही बनाईं, बल्कि मांस की आयात को बन्द करने के लिए प्रथम पाँच वर्षों में एक करोड़ ख़रगोशों का लालन-पालन किया। उसने विदेशी व्यापार का दरवाज़ा भी बन्द कर दिया है। विदेशी व्यापार की मात्रा घटाकर कम से कम कर दी है। जो थोड़ा-बहुत व्यापार होता है वह राज्य की मारफ़त होता है, ज्यादातर चीज़ों के विनिमय के लिए होता है और तभी होता है जब रुपये की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

इस प्रकार पश्चिम के राष्ट्र स्वावलम्बी बनने के लिए मजबूर हो गये हैं। उदाहरणस्वरूप हमने पढ़ा कि जर्मनी को इस साल सर्दी में अपनी चीज़ों का हरेक व्यक्ति के लिए निश्चित बँटवारा कर देना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ निर्यात से आयात का ख़र्च पूरा नहीं हो पाता है। इस प्रकार यदि पश्चिम के राष्ट्र अपने पूर्वी बाज़ार खो चुके हैं और अपना तैयार माल आपस में एक-दूसरे को नहीं बेच सकते, तो उन सबको आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। जब यह स्थिति पैदा हो जायगी तो निर्यात के लिए चीज़ों का बनना बन्द हो जायगा; स्थानीय खपत के लिए उत्पत्ति होती रहेगी और लोग इस बात को कभी मंजूर न करेंगे कि एक आदमी तो माल पैदा करे और वे लाखों की संख्या में माल का उपयोग कर उत्पादक के लिए मुनाफ़े या दौलत का ढेर लगावें और गगन-चुम्बी महलों का निर्माण करके खुद तंग और अंधेरी कोठरियों में पड़े रहें। जब बड़े पमाने पर माल तैयार होना बन्द हो जायगा, तो श्रमिकों को मज़दूरी न मिलेगी। उस दशा में बेकारी का यही

इलाज हो सकता है कि या तो सहयोगात्मक पद्धति पर उत्पत्ति का मुनाफ़ा बाँट लिया जाय या प्राचीन गृह-उद्योगों का आश्रय लिया जाय। इस प्रकार शायद हम थोड़े सुदूर भविष्य की कल्पना कर रहे हैं, किन्तु जब हम राष्ट्रों के भाग्यों की कल्पना कर रहे हैं और सारे भविष्य की ही योजना बना रहे हैं तो यह अच्छा होगा कि हम धुंधलेपन की अपेक्षा गहराई से दूर तक देखने की कोशिश करें।

डेढ़ शताब्दी तक अकल्पित समृद्धि और अप्रत्याशित कष्ट सहन करने के बाद योरुप ने महसूस किया है कि आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन का आदर्श अनिवार्य है और यह कि गृह-उद्योग और हाथ की दस्तकारियों की ओर लौटना होगा। सौभाग्य से यही आदर्श हिन्दुस्तान की युगों पुरानी समाज-व्यवस्था का मूल आधार है—उस व्यवस्था का, जो समय और परिस्थितियों की टक्करें झेलने और लगातार आततायी आक्रमणों का सामना करने के बाद आज भी जीवित है। भूतकाल में हमारे यहाँ भी शहर बसे हुए थे जो दुनिया के काफ़िलों के लिए मोती और सोने के बाज़ार थे। वे देश में दौलत लाते थे, आजकल के शहरों की तरह देश की दौलत को खींच नहीं ले जाते थे। किन्तु हिन्दुस्तान प्रधानतः गाँवों का मुल्क है, क्योंकि सात लाख गाँवों के मुक़ाबिले में दर्जन दो दर्जन शहरों और हज़ार दो हज़ार क़स्बों की क्या गिनती? हमारे गाँवों में बिखरे हुए झोंपड़े नहीं हैं, बल्कि उनमें एक ही क़िस्म की सुगठित सुविभाजित आबादी बसी हुई है; सभ्य जीवन के लिए आवश्यक हर दस्तकारी का उसमें समावेश है। गाँवों में बढ़ई और लुहार, राज और सुनार, कतवैया और जुलाहा, छीपा और रंगसाज़, धोबी और नाई, मोची और किसान, कवि और लेखक सभी रहते हैं। ये सब मिलकर गाँव को राष्ट्र की स्वाश्रयी और स्वावलम्वी इकाई बना

देते है। ऐसी दशा में आवागमन के साधन बन्द हो जायँ अथवा गाँव बाढ़ या सेना से घिर जाय तो भी उसका क्या बिगड़े ?

हमारे लिए यह खास तौर पर सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे सामाजिक और आर्थिक संगठन के धनी हैं, जिसके लिए पश्चिमी राष्ट्रों को खोज करनी पड़ी और जिसके पुनरुद्धार के लिए उनको मुश्किल का सामना करना पड़ रहा है। यह ऐसा संगठन है जो सबके लिए काम सुलभ करता है। और सबके लिए काम सुलभ करने का अर्थ हुआ हरेक के लिए भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करना। जब भोजन और वस्त्र की व्यवस्था हो गई तो बाद में अवकाश भी मिलेगा। अवकाश ज्ञान और संस्कृति प्राप्त करने का अवसर देता है और मनुष्य के लिए उच्चतर जीवन का, आत्मतुष्टि का, द्वार खोल देता है। गाँवों में न केवल सबके लिए काम की ही व्यवस्था की गई है, बल्कि धन्धों को प्रायः वंशपरम्परागत बना दिया गया है ताकि हस्तकौशल और बौद्धिक प्रतिभा सुरक्षित रह सके। यही वजह है कि हिन्दुस्तानी दस्तकारी को इतना महत्व प्राप्त हुआ, और आज भी प्राप्त है और जुलाहे और कुम्हार तत्त्ववेत्ता बन सके। कारीगरों की पंचायतें, पता नहीं यहाँ कितने अर्से से क़ायम हैं, जो न केवल उत्पादन की मात्रा पर ही अंकुश रखती हैं, बल्कि चीज़ों की अच्छाई-बुराई पर भी निगाह रखती हैं। इसीलिए सस्ती और रद्दी चीज़ें बनाना, पश्चिम जैसा दिखावटी किन्तु बेकार माल तैयार करना गुनाह ही नहीं, पाप समझा जाता है। दस्तकारियों में न केवल कला का ही ख्याल रक्खा जाता है, बल्कि धार्मिक श्रद्धा-भक्ति का आदर्श सामने रहता है। इस प्रकार धार्मिक निषेध, प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली की अनैतिकताओं पर वांछनीय अंकुश का काम करते हैं। संक्षेप में, हमारे गाँव सहयोगी परिवारों

के समूह हैं, जहाँ व्यक्ति समाज के लिए और समाज व्यक्ति के लिए काम करता है।

अतः हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थितियों में समाजवाद की योजना लागू करने के प्रश्न पर विचार करते समय हमको इस बात से प्रभावित न होना चाहिए कि कुछ उद्योगपतियों ने मज़दूरों को चूसा है अथवा अधिकतर ज़मींदारों ने किसानों का शोषण किया है। इन परिस्थितियों का, बेशक, हमको सामना करना पड़ेगा, किन्तु देश की ज़रूरतों का फ़ैसला करते समय यदि हमने उनको अपने पर हावी हो जाने दिया तो हम अपना संतुलन खो देंगे। यह हमारी खुशकिस्मती है कि हम ऐसे सामाजिक और आर्थिक संगठन के उत्तराधिकारी हैं जिसमें रुपये और संस्कृति के बीच बराबर साम्य क़ायम रक्खा गया है। उसमें ज्ञान, कमाने का नहीं, सेवा का साधन माना जाता है, और यह निर्देश किया गया है कि सम्पत्तिवान् ज्ञानवान् लोगों का निर्वाह करें। विद्या का दरिद्रता से नाता जोड़ा गया है और धन को समाज में दूसरा स्थान दिया गया है। समाजवाद केवल पैसे की प्रधानता के ख़िलाफ़ बग़ावत है, किन्तु जिस समाज-व्यवस्था में पैसे को प्रधानता नहीं दी गई, वहाँ इस बग़ावत की क्या ज़रूरत रह जाती है?

दरअसल भारतीय समाज का निर्माण ही उस विद्रोह के फलस्वरूप हुआ है। वह युगों की कसौटी पर सफल साबित हुआ है, और इसलिए उसकी एक बार फिर परीक्षा की जानी चाहिए। समाज के संगठन का आधार पैसा नहीं, सेवा है, और यह नया माप प्रस्तुत करता है। यह प्रेम का परिचायक और संयुक्त जीवन का स्तम्भ है। जहाँ सेवा मानवी सम्बन्धों का आधार होती है, वहाँ प्रेम जीवन का स्रोत सिद्ध होगा। उसी के बल पर वास्तव में सेवा की भावना क़ायम रह सकती है। और जब प्रेम और सेवा

समाज के आधार बन जायँगे तो शक्ति और धन को बाद में स्थान मिलेगा। शक्ति का स्थूल स्वरूप पैसा है। पश्चिम में शक्ति और पैसा ही समाज के आधार हैं। उनके कारण वहाँ वर्गों और आम जनता में संघर्ष है; प्रतिस्पर्धा की भावना सर्वव्यापी हो रही है; भौतिक संपत्ति की भूख बढ़ी हुई है; बाज़ारों की तलाश है और सैनिकवाद की भावना जोरों पर है। उनको हटा दीजिए या उनका प्रभाव कम-से-कम कर दीजिए; आप ऐसे समाज की रचना कर सकेंगे जो दूसरे समाजों से सर्वथा भिन्न होगा। एक शब्द में कहें तो हम अपने प्राचीन समाज पर पुनः पहुँच जावेंगे। अवश्य ही उस पर धूल चढ़ गई है। योरुप के इस आदर्श ने कि 'ज्ञान पैसा कमाने का साधन है' विद्या के पूर्वी आदर्श को भ्रष्ट कर दिया है। पिछली शताब्दी में सत्ता और अधिकार की भूख ने मानव-स्वभाव को पतित कर दिया है, हालाँकि सत्ता और अधिकार वास्तव में सेवा के ही साधन हैं। यह जो जंग लग गया है, भ्रष्टता आ गई है, बिगाड़ पैदा हो गया है, उससे हमको अपनी रक्षा करनी होगी और भीतरी धातु को गला कर, जला कर साफ़ करना होगा। जाति-प्रथा लोगों की परम्परागत शक्तियों की रक्षा करने के बजाय लड़ाई-झगड़े का दूसरा रूप बन गई है। कुछ अर्से से ब्रिटेन के संरक्षण में राजनीति को जातिगत और समुदायगत रूप दे दिये जाने के कारण उसका और भी पतन हो गया है। अतः यह हमारा तात्कालिक काम है कि हम अपने वर्ण और आश्रम के आदर्शों का पुनरुत्थान करें और उनमें उनके धर्म की प्रस्थापना करें।

गांधीवाद—जब किसी ज़माने में कोई बड़ा आदमी पैदा होता है तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस आदमी ने ज़माने को बनाया या ज़माने ने उस आदमी को बनाया है। जहाँ तक गाँधीजी और भारतीय समाज का तअल्लुक है, हम

यह मान सकते हैं कि दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। समाज की परिस्थितियों ने गाँधीजी के मानस का पुनर्निर्माण किया है और गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व की छाप भारतीय समाज पर लगा दी है। उन्होंने एक नये धर्म का विकास किया है जो हिन्दू-समाज के चार वर्णों और आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसायी के, युद्ध करने और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय के और अन्ततः लोक-सेवक गुणों का एक-साथ समावेश किया है। सेवा और प्रेम के द्वारा वे स्मृतिकर्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुँच गये हैं। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्मों को भी एक-साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का, जो एकान्तिक समझे जाते थे, सामंजस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है।

गाँधीजी अनुभव करते हैं कि आज चार वर्णों का अस्तित्व नहीं रहा है, इसलिए जो लोग वर्णों को मानते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे पवित्रता और संयम के सर्वोपरि सिद्धान्तों का पालन करके उनकी पुनः स्थापना करें। उन्होंने हिन्दू-समाज की शुद्धि करने की कोशिश की है; सोने पर जो आवरण चढ़ गया है उसको हटाने का प्रयत्न किया है। वे एक बार फिर सेवा और प्रेम के आधार पर समाज की पुनः रचना करना चाहते हैं। 'सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु'—इस प्रार्थना का आदर्श उन लोगों के सामने फिर से पेश किया गया है, जो दिन में तीन बार मंत्रों का उच्चारण करते हैं, किन्तु उनका अर्थ कुछ नहीं समझते। इस दृष्टि से गाँधीजी के स्वराज्य का अर्थ सत्ता और शक्ति का उपयोग नहीं है, बल्कि प्रेम और सेवा के आदर्श के प्रचार द्वारा सबके लिए भोजन और वस्त्र सुलभ करना है। किन्तु भोजन और वस्त्र

आकाश से नहीं गिर पड़ते; उनके लिए मेहनत-मज़दूरी करनी पड़ती है। इस उद्देश्य के लिए गाँधीजी ने शरीर-श्रम का उपदेश दिया है। और प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे के लिए कातना दैनिक यज्ञ क़रार दे दिया है। इस प्राचीन देश की विशाल मानव शक्ति में, जिसकी आबादी चीन से कुछ ही कम है, उन्होंने धन-दौलत का अभूतपूर्व स्रोत ढूँढ निकाला है। यह स्रोत व्यापार के संतुलन पर, बाज़ारों पर, साम्राज्यवाद और सैनिकवाद पर, विनिमय अथवा मुद्रा के पराभव और विस्तार पर अथवा वैज्ञानिक आविष्कारों और अन्वेषणों पर निर्भर नहीं करता है। यंत्रों की प्रतिस्पर्धा से इस मूलभूत समृद्धि के लिए कोई खतरा पैदा नहीं होता; क्योंकि सादा जीवन और उच्च विचार, कड़ी मेहनत और ईमान की कमाई का सादा आदर्श उसका आधार है।

गाँधीजी का मार्ग नकारात्मक मार्ग नहीं है। वह बड़ी ताकत अथवा बड़ी प्रतिस्पर्धा के आगे झुकने का तो मार्ग है ही नहीं। जब विचार अनुकूल होते हैं और दिल में प्रेम पैदा हो जाता है, तो माँ की ओर से मिली हुई तुच्छ-से-तुच्छ चीजें अमूल्य हो जाती हैं और वे विदेशों से आनेवाली बढ़िया-से-बढ़िया चीज़ों के मुकाबिले में खड़ी रह सकती हैं। इसके विपरीत गाँधीजी ने तो चीज़ें तैयार करने का बड़ा सस्ता तरीक़ा बता दिया है। वह इस प्रकार कि जो श्रम ठेके पर नहीं किया जाता, बल्कि अवकाश के समय और प्रेम की ख़ातिर किया जाता है; उसके मूल्य का हिसाब नहीं लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार मालूम होगा कि भोजन और वस्त्र के मामले में, जो मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है, गाँधीजी प्रायः स्वावलम्बन के पक्षपाती हैं। जहाँ व्यक्ति स्वावलम्बी हैं, वहाँ गाँव स्वावलम्बी हैं, कस्बे स्वावलम्बी हो जायँगे और शहरों की वृत्ति स्वावलम्बन की ओर रहेगी। यह सब रक्त बहा कर,

शक्ति के ज़ोर से न होगा। इसके लिए अधिकारों पर निरन्तर आग्रह करने के बजाय सीधी तरह कर्तव्य को अपनाना होगा; ज़बरदस्ती श्रम करने के बजाय स्वेच्छापूर्वक श्रम करना होगा; ताकत के बजाय प्रेम से काम लेना होगा; महत्वाकांक्षा के बजाय सन्तोष धारण करना होगा; जीवन-निर्वाह का माप बढ़ाने के बजाय घटाना होगा; मौज-शौक के बजाय संयम का पाठ पढ़ना होगा और कूट-नीति अथवा दम्भ के बजाय सत्य का आश्रय लेना होगा।

गाँधीवाद बनाम समाजवाद—यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधाएँ देना है, तो गाँधीवाद का यह उद्देश्य है कि हरेक आदमी अपने समय और सुविधाओं का उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करे। यदि समाजवाद पूँजी-कर, भारी अतिरिक्त आय-कर, ज़ब्ती और शक्ति द्वारा सम्पत्ति को स्थानच्युत करता है, तो गाँधीजी युगों पुरानी परम्परा का आह्वान करते हैं, जिसने अमीरी के मुक़ाबिले में निर्धनता को और धन के मुक़ाबिले में ज्ञान को महत्व दिया है। यदि समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की सहायता लेता है, तो गाँधीवाद अपनी सफलता के लिए प्रत्येक नागरिक के अन्तःकरण की उन्नति और संस्कृति के विकास पर विश्वास करता है। समाजवाद के बाहर से लादे हुए परिणाम देखने में शानदार मालूम देते हैं, किन्तु वे वास्तव में अनिश्चित और ख़तरे से परिपूर्ण होते हैं। गाँधीवाद के परिणाम जो छोटे दिखाई देते हैं, लोगों की सद्भावनाओं के आधार पर मज़बूत और गहरी जड़ें जमा लेते हैं। समाजवाद को यह दुःखद दृश्य देखना पड़ा कि उसके पुजारी अपने सिद्धान्तों और शक्ति को स्थिर रखने के लिए तानाशाह बन गये। गाँधीवाद स्वेच्छापूर्वक स्वार्थत्याग करने में विश्वास करता है। उसने सांगली के ठाकुर, ढसा के दरबार गोपालदास देसाई और कालाकांकर (संयुक्तप्रांत) के राजा जैसे

आदमी पैदा किये हैं। अधिकांश लोगों के लिए समाजवाद एक वृत्ति है, किन्तु गाँधीवाद कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है; गाँधीवाद हरेक आदमी को उसका कर्तव्य सुझाता है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है; गाँधीवाद मानव-सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है। समाजवाद ऐसे देश की खाद्य-सामग्री को इकट्ठा करता है, जहाँ के कुछ भाग बंजर हैं और फिर उस सामग्री को बाँट देता है। गाँधीवाद ऐसे देश में जहाँ हर तरह की मिट्टी और सतह मौजूद है और हर तरह की जल-वायु और परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, हरेक आदमी से अपना भोजन-वस्त्र ख़ुद पैदा करने का आग्रह करता है। समाजवाद मज़दूरी का हिसाब रखता है और हरेक आदमी को राज्य के लिए श्रम करने को विवश करता है; गाँधीवाद दुनिया को इस बात की श्रेष्ठता बताता है कि व्यक्तियों के प्रत्येक समूह की परम्परा के अनुसार उस समूह के हरेक स्त्री-पुरुष को अपने और अपने परिवार के लिए काम करना चाहिए। समाजवाद ऐसे समाज में, जहाँ परिवार के भीतर भी असमानता का बोलबाला है, सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहता है; गाँधीवाद हिन्दुओं के उत्तराधिकार विषयक कानूनों से लाभ उठाता है, जिनके अनुसार सभी लड़के पिता की सम्पत्ति के समान हक़दार होते हैं और मुसलमानों में तो लड़कियों को भी उचित हिस्सा मिलता है। समाजवाद पश्चिम की समाज-व्यवस्था के गोल-माल का इलाज हो सकता है, किन्तु गाँधीवाद समाज के ऐसे संगठन और कर्तव्यों को व्यक्त करता है जिनकी ऋषियों ने हज़ारों वर्षों पहले रचना की थी और जिनको आज दूसरा ऋषि पुनः संगठित कर रहा है। इसीलिए तो गाँधीजी ने कराची में कहा था —

"गाँधी मर सकता है, किन्तु गाँधीवाद अमर रहेगा"।

ब्रह्म-कान्ति

(प्रो० पूर्णसिंह एम. एस-सी.)

अनेक सूर्य आकाश के महामण्डल में घूम रहे हैं; अनन्त ज्योति इधर-उधर और हर जगह बिखेर रहे हैं। सफ़ेद सूर्य, पीले सूर्य, नीले सूर्य और लाल सूर्य, किसी के प्रेम में अपने-अपने घरों में दीपमाला कर रहे हैं। समस्त संसार का रोम-रोम अग्नियों की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। परमाणु ब्रह्मकान्ति से मनोहर रूपों में सजे हुए, ज्योति से लदे हुए जगमग कर रहे हैं। परमाणु सूर्य रूप हो रहे हैं, और सूर्य परमाणु रूप। सुन्दरता सारी लज्जा को त्याग, घर-बार छोड़, अनन्त पर्दों को फाड़, खुले-मुँह दर्शन दे रही है। बालकों, नारियों और पुरुषों के मुखों से लाली और सफ़ेदी झड़ रही है; गुलाब, सेब और अँगूर के नरम-नरम और लाल-लाल कपालों से फूट-फूट कर निकल रही है। प्रातःकाल के रूप में सिर पर नरम-नरम और सफ़ेद-सफ़ेद रूई का टोकरा उठाये हुए किस अन्दाज़ से वह आ रही है। सायंकाल होते अपने दुपट्टे के सुर्ख़ फूलों से फिर कुल संसार से होली खेलती हुई वह जा रही है। झरनों, चश्मों और नदी-नालों में नाच रही है। हिमालय की बर्फ़ों में लोट रही है। सजे-धजे जंगल और रूखे-सूखे बियाबानों की सनसनाहट में लोट रही है। युवती कन्या के रूप में जवानी की सुगन्ध फैलाती हुई वही चल रही है। नरगिस की आँख में किस भेद से छिपी हुई है कि प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। बालक की बोल-चाल में, चेहरे में, क्या झाँक-झाँक कर सब को देख रही है। खुला दरबार है। ज्योति का आनन्द-नृत्य सब दिशाओं में हो रहा है। मीठी वायु दर्शनानन्द से चूर हो, मारे खुशी के लोटती-पोटती लड़खड़ाती नाचती चली जा रही है। इस ब्रह्मकान्ति के जोश में

बादल गरज रहे हैं। विजली चमक रही है। अहा हा! सारा संसार कृतार्थ हुआ। जाग उठा। हाथी चिंघाड़ रहे हैं, दौड़ रहे हैं। शेर गरज रहे हैं, कूद रहे हैं। मृग छलाँगें मार रहे हैं। कोयल और पपीहे, बटेर, बये, कुमरी और चंडूल नंगे हो नहा रहे हैं। दर्शन दीदार का पा रहे हैं। तीतर गा रहे हैं। मुर्ग़ अपनी छाती में आनन्द को पूरा भर कर कूक रहे हैं। ई-ई, ऊ-ऊ, कू-कू, हू-हू में वेद-ध्वनि, ओ३म् का आलाप हो रहा है। पर्वत भी मारे आनन्द के हवा में उछल-उछल नीले आकाश को फाँद रहे हैं बदरीनाथ, केदारनाथ, जमनोत्तरी, गंगोत्तरी, कंचनचंगा की चोटियाँ हँस रही हैं। वृक्ष उठ खड़े हुए हैं, इन सब की सन्ध्या हो चुकी है।

था जिनकी खातिर नाच किया, जब सूरत उनकी आयेगी।
कहीं आप गया कहीं नाच गया, और तान कहीं लहरायेगी॥

अर्थात् सबकी नमाज़ कज़ा हो गई। प्यारा नज़र आया। सबकी ईद है। ब्रह्मर्षि "सर्व खल्विदं ब्रह्म" पुकार उठा, चीख़ उठा, योग-निद्रा खुल गई। ब्रह्म-कान्ति के आकर्षण ने दसवाँ द्वार फोड़ कर प्राणों को अपनी ही गति फिर दे दी। मारे परमानन्द के हृदय बह गया। यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया। अत्यन्त ज्योति के चमत्कार से साधारण आँखें फूट गईं। प्रेम के तूफ़ान ने सिर उड़ा दिया। हवनकुण्ड से स्याह, नीले रंग का ब्रह्म, कमलों से जड़ा हुआ ब्रह्म, मोतियों से सजा हुआ, किसी ने कंधों पर रख दिया, ब्रह्मयज्ञ हो चुका। मनुष्य-जन्म सफल हुआ। जय! जय!! जय!!! भक्त की जिह्वा बन्द हो गई। बाहु पसार जा मिला। कुछ न बोल सका। कुछ न बोला, ब्रह्म-कान्ति में लीन हो गया। उसके सितार के तार टूट गये। नारद की वीणा चुप हो गई। कृष्ण की बाँसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा। शिव का डमरू बंद हो गया। महात्मा पण्डितजी जा रहे हैं।

पुस्तकों से लदा छकड़ा साथ जा रहा है। परन्तु पंडितजी इन अमूल्य पुस्तकों को छकड़े समेत अपने सिर पर उठाये हुए हैं। वह क्या हुआ? क्या नज़र आया? अमूल्य पुस्तकें—वेद, दर्शन इत्यादि—पंडितजी के सिर से गिर पड़ीं? छकड़ा लड़खड़ाता गंगा में बह गया। सब कुछ जल में प्रवाह कर दिया। पंडितजी का साधारण शरीर वायु में मानो घुल गया। नाचने लग गये। चाँद के साथ, सूर्य के साथ हाथ पकड़े नृत्य करते हुए वायु के समान समुद्र की लहरों में ब्रह्म-कान्ति के साथ जा मिले।

हल चलाता-चलाता किसान रह गया। बकरी-भैंस चराता-चराता वह और कोई भी इसी तरह लीन हुआ। जूते गाँठता-गाँठता एक और कोई दे मरा। भोग-विलास की चीज़ें पास पड़ी हैं; ऊँचे महलों से निकल सुनहरे पलँगों से गिर वह रेत में कौन लोट गया? सिर से ताज उतार, नंगे सिर, नंगे पाँव यह अलख कौन जगाता फिरता है? मोर-मुकुट उतार, सिर पर काँटे धरे शूली की नंगी धार पर वह मीठी नींद कौन-सा राम का लाड़ला सोता है? तारों की तरह कभी मैं टूटा और कभी तू टूटा! कभी इसकी बारी और कभी उसकी बारी आई। मीराबाई ब्रह्म-कान्ति का अमूल्य चिन्ह हो गई। गार्गी ने ब्रह्म-कान्ति की लाट को अपनी आँख में धारण किया। वेद ने ब्रह्म-कान्ति के दर्शन रूप को अपनी आँख में ले लिया।

हाय! ब्रह्म-कान्ति के अनन्त प्रकाश में भी मेरे लिए अँधेरा हुआ। अत्यन्त अत्याचार है! गंगाजल तो हो शीतल, परन्तु मेरा मन अपवित्रता के भावों से भरा हुआ मार्गशीर्ष और पौष की ठंडी रातों में भी अपने काले-काले संकल्प के नागों से डसा हुआ जल रहा हो, तड़प रहा हो! अपवित्रता का पर्दा जब आँख पर आ जाय तो भला किस तरह देखे कोई? हिमालय की बर्फ़ हो शुद्ध सफ़ेद और मेरा मन काला! हरी-हरी घास भी हो नरम

और मेरा दिल हो कठोर! पत्थर, रेत, कुश, जल ये भी हों पवित्र, पर इन जैसी भी न हो मेरी स्थिति! फूल भी हों सुगन्धित, मिट्टी भी हो सुगन्धित, पर मेरे नेत्र और वाणी और अन्य अङ्ग हों दुर्गन्धित! पत्थरों के पहाड़, घासों के जंगल, पानी के झरनों को देख कर तो महर्षि भी बोल उठे—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म", पर मुझे देख उनको भी कभी-कभी शक हो जाय और प्रश्न उनके हृदय में भी उठे कि ब्रह्म को कैसे भूल गया?

ऐसे कैसे निभेगी? हाय, मुझमें यह अपवित्रता कहाँ से आ गई! क्यों आ गई! ब्रह्म को भी कलंकित कर रही है। ब्रह्म-कान्ति की अटल शोभा को भी एक ज़रा-से बादल ने ढाँप दिया। एक मोतियाबिंद के दाने ने गुप्त कर दिया। अपवित्रता को आँखों में रख, कैसे हो सकता है वह विद्यादर्शन? कैसे सफल हो मनुष्य-जन्म? राजदुलारे! अहो, क्या हुआ कि सारी-की-सारी सलतनत लूट गई; दर-दर गली-गली धक्के खाता हूँ; कोई लात मारता है, कोई ढेला; कभी यहाँ चोट लगती है, कभी वहाँ; कभी इस रोग ने मारा, कभी उस रोग ने; सारा. दिन और सारी रात रोग के पलंग पर पड़ा रहना भी क्या जीवन हुआ! मरने से पहले ही हज़ार बार मौत के डर से मरते रहना भी क्या जीवन है! सदा आशा-तृष्णा के जाल में फड़क-फड़क, न जीना और न मरना, भला क्या सुख हुआ!

कौन-सा कलियुग मेरे मन में भूत की तरह आ समाया है कि मुझे सब कुछ भुला दिया। खुश हो-होकर जुआ खेलने लग गया। अपनी आत्मा को भी हार बैठा। अपनी आँखें आप ही फोड़ अब रोते क्यों हो? अब तो तुम्हारी प्रार्थना सुनने वाला कोई नहीं। इस अपवित्रता के अन्धेरे को जैसे-तैसे सफ़ेद करना है। इस कलंक को धोना है। इस मोतियाबिंद को निकलवाना है। मैं भारतनिवासी कैसे हो सकता हूँ, जिसने अपने

तीर्थों में भी,—जिन तीर्थों की यात्रा से, सुनते हैं, अपवित्रता का कलंक दूर हो जाता था,—काले संकल्पों के नाग हर किसी को डसने के लिए छोड़ रखे हैं और इसे लीला मान कर रोते समान हँस रहा हूँ ।

ये तिमिर के बादल कब उड़ेंगे ? पवित्रता का सूर्य मेरे अंदर कब उदय होगा ? मेरे कान में धीमी-सी आवाज़ आई कि भारत का उदय हुआ । हाय ! भारत का कब उदय हुआ ! जब मेरे दिल में अभी अपवित्रता की रात है, जब अभी मैंने हिमालय, गंगा, विन्ध्याचल, सतपुड़ा और गोवर्द्धन को अपनी आँख के अंधेरे से ढाँप रक्खा है । भारत तो सदा ही ब्रह्म-कान्ति में वास करता है; भारत तो ब्रह्म-कान्ति का एक चमकता-दमकता सूर्य है । जब ब्रह्म-कान्ति के दर्शन न हुए तो भारत का कहाँ पता चलता है । भारत की महिमा पवित्रता के आदर्श में है । ब्रह्मचारी पवित्र, गृहस्थ पवित्र, वानप्रस्थ पवित्र और संन्यासी पवित्र । ब्रह्म-कान्ति को देखना और दिखाना भारत का जीवन है । पवित्रता का देश, भारतनिवासियों का देश है, जहाँ ब्रह्म-कान्ति का मान होता है, खुले दर्शन दीदार होते हैं । भला हड्डी, मांस और चाम के शरीरों और हज़ारों मील लंबी-चौड़ी मुर्दा की हुई ज़मीन से भी कभी भारत बनता है ! मख़ौल के चोचलों से क्या लाभ होता है ! भारत तो केवल दिल की बस्ती है ! ब्रह्म-कान्ति का मानो केन्द्र है ! भारत-निवासियों का राज्य तो आध्यात्मिक जगत् पर है । अगर यह राज्य न हुआ तो मुर्दा भूमि के ऊपर राज्य किस काम का ? जल न जायँ वे महल जहाँ ब्रह्म-कान्ति से रोशनी न हो । गोली न लग जाय उन दिलों को, जहाँ प्रेम और पवित्रता के अटल दीपक नहीं जगमगाते । ऐसे बेरस, बेसूद फलों के इंतज़ार से क्या लाभ, जो देखने में तो अच्छे और जब जतन से बाग लगाये, फल पकाये तो खाने को वे काँटे बन गये । चलो, चलें अपने सच्चे

देश को; इस विदेश में रहने, जूते खाने से क्या लाभ ? अपने घर को मुख मोड़ो ! बाहर क्या दौड़ रहे हो ?

भाव या मनोविकार

(श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल)

अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। उच्च प्राणी, मनुष्य, भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दु:ख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरम्भ में इन्हीं दोनों के चिन्ह हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं; विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि सुख और दु:ख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे, यदि शरीर में कहीं सूई चुभने की पीड़ा हो, तो केवल सामान्य दु:ख होगा; पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सूई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है, तो उस दु:ख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। जिस बच्चे को पहले अपने ही दु:ख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्यक्रम अनुमान-द्वारा उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक

विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है, जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिस पर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचने वाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है, वह भय कहलाता है। बहुत छोटे बच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ, तो भी वह विचलित न होगा; क्योंकि वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं, जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुँचाने की चेतनवृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं; बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इन्द्रियाँ दूर से आती हुई क्लेशकारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अन्तःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है, तब हमारा काम दुःख मात्र से नहीं चल सकता; बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चलता है। इसी प्रकार अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है, उसी तक प्रयत्नवान् प्राणी नहीं रह सकता; बल्कि उसकी प्राप्ति, रक्षा या संयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूलरूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती

है। उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकाल कर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचाने वाली वस्तु से लगे रहेंगे; इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ-पैर पटकेंगे, रोएँगे, चिल्लाएँगे या दुःख पहुँचाने वाली वस्तु से हटेंगे। पर हम चाहे कितना ही उछल-कूदकर हँसें, कितना ही हाथ-पैर पटक कर रोएँ, इस हँसने या रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षणमात्र हैं, जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।

शरीर-धर्म मात्र के प्रकाश से बहुत थोड़े भावों की निर्दिष्ट और पूर्ण व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए कम्प लीजिए। कम्प शीत की संवेदना से भी हो सकता है, भय से भी, क्रोध से भी और प्रेम के वेग से भी। अतः जब तक भागना, छिपना या मारना-झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा, तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने ले लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यञ्जना किया करते हैं। इसी से साहित्य-मीमांसकों ने अनुभाव के अन्तर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी की ओर झपटे या न झपटे, उसका यह कहना ही कि "मैं उसे पीस डालूँगा", क्रोध की व्यञ्जना के लिए काफ़ी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके, उसका यह कहना ही कि, "कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती!" उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है, वैसी

तत्परता के साथ हथियार चलाने और रणक्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं। बात यह है कि भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है, उतना अनुभाव कहलाने वाले व्यापारों द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना-फोड़ना, मारना-पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं; पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है। 'किसी को धूल में मिला देना', 'चटनी कर डालना', 'किसी का घर खोद कर तालाब बना डालना', तो मामूली बात है। यही बात सब भावों के सम्बन्ध में समझिए।

समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संघटन में ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा और लोक-रञ्जन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सबमें इनसे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाये गये हैं, उसी प्रकार किसी संप्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

सब प्रकार के शासन में—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन या सम्प्रदाय-शासन—मनुष्य-जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन, तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत-शासन चलते आ रहे हैं। इनके

द्वारा भय और लोभ का प्रवर्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासकवर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिए भी इनसे काम लेते आये हैं, उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शान्ति के लिए भी डराते और ललचाते आये हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कंपाते और लपकाते आये हैं। एक जाति को मूर्तिपूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्तक ने उसे गुनाहों में दाख़िल किया है। एक सम्प्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे सम्प्रदाय के प्रचारक ने उनके दर्शन तक में पाप लगाया है। भाव-क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। इसे इस प्रकार गन्दा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उसकी गति नहीं होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखनेवाली शक्ति कविता है जो धर्मक्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का सङ्गम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस सङ्गम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञान नर-सत्ता के प्रसार के लिए है, उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामञ्जस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जायगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो

जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा। काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है। सच्चे कवियों की वाणी बराबर यही पुकारती आ रही है—

विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत-फिरत, तिन्हैं खेलन-फिरन देव।

—ठाकुर

चन्द्रलोक की यात्रा

(श्री सन्तराम बी० ए०)

पश्चिम के वैज्ञानिक अब अन्तरिक्ष में घूमनेवाले चन्द्र, मंगल, शुक्र आदि दूसरे लोकों में पहुँचने के उपाय सोचने लगे हैं। रसायनशास्त्री, धातुविद्या-विशारद और अनेक दूसरे शिल्पी अन्तरिक्ष-यात्रा के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक लगे हुए हैं। इस सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनके अन्तर्गत उन अड्डों का स्थापित करना भी है, जहाँ विभिन्न प्रकार की चालक-शक्ति के प्रयोग किये जायँगे। आशा की जाती है कि वहाँ से बहुत-सी केन्द्रीय शक्ति प्राप्त होगी।

परमाणु-शक्ति के आविष्कार से ही लोक-लोकान्तर की यात्रा सम्भव जान पड़ने लगी है। इस परमाणु-शक्ति को यदि आतिशबाज़ी की हवाई (रॉकेट) में भरकर अन्तरिक्ष की ओर छोड़ा जाय, तो आशा की जाती है कि वह हवाई में बैठे हुए मनुष्य को लेकर, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से परे, अन्तरिक्ष के शून्य में पहुँचा देगी। वस्तुतः यदि मनुष्य को बैठाकर ले जानेवाली भीमाकार हवाइयों को चलाने के लिए परमाणु-शक्ति का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सके, तो दूसरे लोकों के साथ बातचीत करने और वहाँ आने-जाने का युग आरम्भ हो जायगा।

ये केवल बातें-ही-बातें नहीं। ये विचार साकार भी होने जा

रहे हैं। एक विशेष दहन-प्रकोष्ठ बनाया जायगा। उसमें यूरेनियम-२३५ नाम की धातु की बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्राएँ एक-दूसरे के बाद एक सिलसिले में भर दी जायँगी। यूरेनियम-२३५ ही वह धातु है, जिससे इस समय हमें परमाणु-शक्ति प्राप्त होती है। इस दहन-प्रकोष्ठ में यूरेनियम की इन मात्राओं से एक-दूसरे के बाद परमाणु-शक्ति मुक्त होती रहेगी। इस प्रकार जो प्रकाण्ड शक्ति उत्पन्न होगी, वह हवाई के पिछले भाग से भीषण वेग के साथ दौड़ते हुए परमाणु-कणों की धारा के रूप में निकलेगी।

युद्ध के उपरान्त अब विभिन्न ग्रहों के सम्बन्ध में जो शोध की जायगी, उसमें पहला काम यह होगा कि थाह लेने वाली हवाइयाँ ऊपर भेजी जायँगी। उनमें अपने-आप लिखते रहनेवाले यन्त्र लगे होंगे। वे इतना ऊँचा चढ़ जायँगी, जितना कि पहले कोई नहीं चढ़ा होगा। इन बहुत ऊँची ऊँचाइयों की थाह लेने से मनुष्य को उठाकर ऊपर ले जानेवाली उनसे बड़ी हवाइयों को ऊपर भेजने में सहायता मिलेगी। इन हवाइयों में बैठकर जो मनुष्य शून्य में जायँगे, वे वहाँ की खोज करने के बाद पैराशूटों द्वारा वापस आ जायँगे। इसके बाद दूसरा काम यह होगा कि एक बड़े जहाज़ में बैठकर शून्य में से मनुष्य चन्द्रमा के लिए प्रस्थान करेंगे।

जहाँ तक शून्य में उड़ने का सम्बन्ध है, चन्द्रमा की यात्रा एक छलाँग-मात्र है। यह लगभग २४०,००० मील का सफ़र है। हिसाब लगाया गया है कि यह सफ़र कोई ४८ घण्टे में समाप्त हो जायगा। इतना समय रासायनिक प्रतिक्रिया एकाई द्वारा चलनेवाली हवाई के जाने में लगेगा। जब परमाणु-शक्ति हाथ आ जायगी, तो शून्य में से चन्द्रमा तक पहुँचने में केवल कुछ ही घण्टे लगेंगे। शुक्र ग्रह घूमता हुआ जिस समय पृथ्वी से निकटतम दूरी पर होता है, तो उसमें और पृथ्वी में केवल २६,०००,००० मील का अन्तर रह जाता है। इससे अधिक कोई भी दूसरा ग्रह पृथ्वी के निकट

नहीं पहुँचता। इस ग्रह में पहुँचने में कोई ४८ दिन लगेंगे। मंगल ग्रह जब पृथ्वी से निकटतम अन्तर पर होता है, तो हमसे उसकी दूरी ३५,०००,००० मील होती है। इसमें पहुँचने के लिए कोई ६० दिन लगेंगे।

शून्य में से उड़कर दूसरे लोकों में पहुँचने की कल्पना यों तो लोग शताब्दियों से करते आये हैं; हमारे पुराणों में भी नारद आदि के चन्द्रलोक और मंगललोक में जाने की बात लिखी है; पर शून्य अन्तरिक्ष में से होकर दूसरे लोकों में पहुँचने का वैज्ञानिक सिद्धान्त सबसे पहले ज़ियोलवोस्की नाम के एक रूसी ने सन् १९०३ में निकाला था। यह वही वर्ष है, जब हवाई-जहाज़ पहले-पहल बना था और केवल कुछ ही क्षण आकाश में उड़ सका था। इसके बाद से अनेक अनुसन्धानकारी अन्तरिक्ष में उड़ने के प्रश्न पर विचार करते रहे हैं—जैसे अमरीका में प्रो० गोडार्ड, फ्रांस में मोसिए इसनाल्तपेल्तरी और जर्मनी में प्रो० ओबर्थ। युद्धों के बीच के वर्षों में ओबर्थ ने ऐसी हवाई बनाने की योजना निकाली थी, जो मनुष्य को उठाकर चन्द्रलोक में ले जाय। उस समय इस योजना को सम्पूर्ण करने के लिए रुपये का मिलना असम्भव था। फिर भी छोटी-छोटी हवाइयों के साथ कई सफल प्रयोग किये गए थे। इन छोटी हवाइयों में मनुष्य को उठाकर उड़ जानेवाली बहुत बड़ी हवाइयों की सभी विशिष्टताएँ मौजूद थीं।

जब नात्सियों के हाथ में शक्ति आई, तो उन्होंने आकाश-यात्रा सम्बन्धी जो भी जानकारी मिल सकी, सब हथिया ली और सैकड़ों मील दूर अस्त्र भेजने के उद्देश्य से अग्नि-बाण के विकास के लिए गुप्त अड्डा स्थापित किया। फिर उचित काल में वी-२ नामक अस्त्र प्रकट हुआ। इस अग्नि-बाण के विशेष लक्षण यदि वैज्ञानिक उद्देश्य के लिए बनाई हुई हवाई में इकट्ठे कर दिये जायँ, तो हो सकता है कि एक ऐसा चालकविहीन वाहन बन जाय, जो पृथ्वी से

उड़कर अपने-आप चन्द्रमा पर जा पहुँचे।

पर चन्द्रलोक को जानेवाले किसी आकाश-पोत के मार्ग में कई कठिनाइयाँ भी हैं। उस पर विश्व-किरण (कौस्मिक-रे) का प्रभाव होने का डर है, उल्काओं के साथ टक्कर होने का डर है, लोकान्तर की यात्रा में आकाश-यान को बचाकर चलाने का जटिल प्रश्न है और शून्य में से उड़कर जानेवाले यन्त्र और उसमें सवार मनुष्यों को अत्यन्त शीत और प्रचण्ड ताप से हानि पहुँचने का भय है। सबसे बढ़कर यह समस्या है कि जो मनुष्य उस अग्नि-बाण में बैठकर अन्तरिक्ष की यात्रा कर रहे हैं और जो मनुष्य पृथ्वी पर पीछे खड़े हैं, उनकी परस्पर बातचीत के लिए कौन-सी विधि का प्रयोग किया जाय? यदि विश्व-किरणों के प्रभाव की बात लें, तो कहा जाता है कि वे अंशतः बिजली से बहुत अधिक भरे हुए वैद्युतिक कणों से बनी हैं, इसलिए मानव देह पर विविध रीतियों से उनका प्रभाव होता है। चन्द्रमा को जानेवाली हवाई के किसी उल्का से टकरा जाने की भी सम्भावना बहुत कम है, क्योंकि अन्तरिक्ष का प्रसार असीम है। इसलिए डरने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त रेडियो द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। यह विज्ञान दिन-पर-दिन उन्नत हो रहा है। इसकी सहायता से चन्द्रमा को जानेवाले अग्नि-बाण में बैठे हुए मनुष्यों को पता लगता रहेगा कि कोई उल्का उनके निकट तो नहीं आ रही।

शून्य की यात्रा करनेवाली मशीन को एक ओर तो सूर्य से निकलनेवाले अपरिमित ताप और दूसरी ओर अत्यन्त शीत के हानिकर प्रभाव से बचाने के लिए यह किया जायगा कि मशीन उड़ते समय बहुत धीरे-धीरे घूमती रहेगी। इसके अतिरिक्त इसे ऐसे उपादान से बनाया जायगा, जिस पर शीत और ताप का कुछ प्रभाव नहीं होता। मशीन के अपनी धुरी के गिर्द घूमने से

मशीन के भीतर उसके अपने-आप तक परिमित रहने वाला एक प्रकार का कृत्रिम गुरुत्व—भारी होने का अनुभव—उत्पन्न हो जायगा। बाह्य प्रसार में ऐसे प्रभाव का अभाव इस कृत्रिम गुरुत्व से पूरा हो जायगा। पर्यवेक्षण के लिए अन्तरिक्ष-यान के संचालन और अपनी धुरी के गिर्द घूमने के प्रभाव को रोकने के लिए नियन्त्रण-प्रकोष्ठ (कण्ट्रोल चेम्बर) में अपनी धुरी के गिर्द घूमनेवाले दर्पणों का एक यन्त्र लगा दिया जायगा। इस यन्त्र को 'कोइलोस्टाट' कहते हैं। इस यन्त्र में इन यात्रियों को सूर्य, चन्द्र और ग्रहों का अचल प्रतिबिम्ब दीखता रहेगा।

शून्य में यात्रा करनेवाले इन मनुष्यों और पृथ्वी पर के मनुष्यों के बीच बातचीत के लिए 'अल्ट्रा-शार्ट-वेव वायरलेस' का प्रयोग शायद सम्भव हो सकेगा। पृथ्वी के मनुष्यों को लेकर दूसरे लोकों में जानेवाली हवाई का आकार-प्रकार कैसा होना चाहिए, इसे सोचने के लिए कई सोसाइटियाँ बनी हैं। इसका नक़्शा पहले ब्रिटिश इण्टरप्लेनेटरी सोसायटी ने तैयार किया था। फिर उस पर 'कम्बाइण्ड ब्रिटिश एस्ट्रोनाटीकल सोसायटीज़' ने काम किया। तब उन सबके परामर्श से एक बेलन के आकार की हवाई बनाई गई। उनमें एक नियन्त्रण-प्रकोष्ठ बनाया गया, जिसमें तीन मनुष्य बैठ सकते थे। उड़ान के आरम्भ में जब यह हवाई पूरी तरह भरी हो, तो इसको पानी पर तैरते हुए चबूतरे से या भूमि में दबे हुए यन्त्र से आकाश में फेंकना सुविधाजनक पाया जा सकता है। इसका निर्णय पीछे होगा।

जब हवाई एक बार वायु में उड़ने लगी और वर्त्तमान योजनाओं के अनुसार उसे चलाया गया, तो फिर प्रधान और सहायक हवाइयों की बैटरियाँ उसे आगे ढकेलने तथा उसका नियन्त्रण एवं परिचालन करने लगेंगी। हाँ, यदि परमाणु-शक्ति उत्पन्न करनेवाला यन्त्र मिल गया, तो ये योजनाएँ परिवर्त्तित भी हो सकती हैं।

प्रत्येक बैटरी अलग-अलग ट्यूब में होगी। समूची ढकेलनेवाली प्रणाली मधुमक्खियों के छत्ते के नमूने की होगी। मशीन में बैठे हुए मनुष्य अपनी इच्छा से जैसा चाहेंगे, हवाइयों को चला सकेंगे। मशीन की गति को घटाना-बढ़ाना भी उनके हाथ में होगा, जिससे कहीं उसकी गति इतनी न बढ़ जाय कि मानव शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध हो।

नीचे उतरते समय मशीन अपने खाली हो चुके हवाइयों के ट्यूब फेंककर अपने को हल्का कर लेगी। जब यह चन्द्रमा पर पहुँच जायगी, तब भी इसमें इतना ईंधन मौजूद होगा कि यह वापस पृथ्वी पर पहुँच सके। खाली ट्यूब फेंक देने के कारण यह उस समय की अपेक्षा हल्की होगी, जब इसने पृथ्वी से अपनी यात्रा आरम्भ की थी। इससे इस मशीन में सवार लोग एक यन्त्र की सहायता से, जो मशीन में ही लगा होगा, अपना वापसी सफ़र आसानी से, पृथ्वी की ओर आरंभ कर सकेंगे। इस काम में उनको चन्द्रमा के बहुत दुर्बल गुरुत्वाकर्षण से भी सहायता मिलेगी। गुरुत्वाकर्षण कम होने से वे भारी-भारी वस्तुओं को भी सरलता से उठा सकेंगे। गुरुत्वाकर्षण कम होने से चन्द्रमा के धरातल से मशीन का ऊपर उठना भी अपेक्षाकृत आसान होगा। ख़याल है कि शून्य में से हवाई की गति उस गति से असीम रूप से अधिक होगी, जो मनुष्य ने अब तक कभी प्राप्त की है। जिस समय तक चन्द्रमा को जाने वाला अन्तरिक्षचारी जहाज पृथ्वी के वायुमण्डल की सीमाओं में पहुँचेगा, पृथ्वी से कोई २०० मील ऊपर लगभग १००० मील प्रतिघण्टे के वेग से चल रहा होगा। इससे भी ऊपर, बाहर के शून्य में, इसकी गति के २०,००० मील प्रति घण्टे से भी बढ़ जाने की सम्भावना है। क्या मानव शरीर इन तीव्र गतियों को सहन कर सकता है? इसका उत्तर अधिक-से-अधिक प्राप्त किये गति-वेग में नहीं, वरन् वेग के बढ़ने में है।

हमारे शरीर पर गति के वेग का नहीं, वरन् उस शीघ्रता का प्रभाव पड़ता है, जिससे वह वेग प्राप्त किया जाता है। जब मनुष्य किसी वाहन के भीतर बैठा पवन के महावेग से सुरक्षित यात्रा कर रहा होता है, तो इस बात को जानने के लिए कि वह वाहन कितने वेग से चल रहा है, उसके पास चाक्षुष पर्यवेक्षण के सिवा और कोई साधन नहीं होता। जिस चीज़ को मानव-शरीर सहन नहीं कर सकता, वह है बहुत अधिक प्रचण्ड वेगवर्द्धन। चन्द्रलोक के लिए काल्पनिक यात्रा की जो पहले-पहल अद्भुत कहानियाँ बनाई गई थीं, उनमें शून्य के उड़ने वाली मशीन को एक भीमकाय तोप के मुँह में से गोले की भाँति बाहर फेंकने की कल्पना की गई थी। यदि सचमुच ही मशीन को इस प्रकार तोप द्वारा शून्य में फेंका जाता, तो उस शीघ्रता ही के कारण, जिससे उनकी मशीन का गति-वेग बढ़ता, वे तत्क्षण मर जाते। परन्तु मनुष्य को ले जानेवाली जिस प्रकार की हवाइयाँ अब बनाई जाने को हैं, उनमें मशीन को आगे ढकेलनेवाले शक्ति-स्रोत इतने पूर्ण रूप से नियन्त्रित होंगे कि उड़ान के आरंभ में गति-वेग को इतना नहीं बढ़ने दिया जायगा, जिससे हानि का भय हो।

जब शून्य में से उड़ता हुआ जहाज़ उस जगह जा पहुँचेगा, जहाँ चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण का उसपर प्रभाव होने लगेगा, तो मशीन के पार्श्वों पर लगे हुए सहायक परिचालक रैकेट-ट्यूब, जो जहाज़ की गति को ठीक करने के लिए उड़ाने के समय काम में लाये गये थे, काम करेंगे। इससे वह वाहन बहुत धीरे-धीरे मुड़ेगा, ताकि वह चन्द्रमा पर सुरक्षित पहुँचे। ज्योंही यह मुड़ने का काम सन्तोष-जनक रूप से पूरा हो जायगा, त्योंही प्रधान बैटरियाँ उल्टी क्रिया के साथ पुनः कार्य करने लगेंगी। इससे वह मशीन चन्द्रमा के धरा-तल पर इतनी मन्द गति से उतरेगी कि उसे हानि होने का कोई भय नहीं रह जायगा। उसके अधोभाग में एक विशेष यन्त्र लगा होगा

जो उसकी गति को चूस लेगा। हो सकता है कि चन्द्रमा का धरातल खुरदरा और ऊबड़-खावड़ हो। इसलिए वह अन्तरिक्षचारी मशीन हेलीकाप्टर की भाँति लम्ब रूप में वहाँ उतरेगी। मशीन के यात्री मशीन में से हवाई ताले द्वारा बाहर निकलेंगे। वे खोदवाले कपड़े पहन रहे होंगे। जब वे इधर-उधर फिरेंगे, तो उनमें से उन्हें आक्सीजन गैस मिलेगी और साथ ही शीत से बचने के लिए ताप भी।

वापसी के समय जब ये अन्तरिक्ष-यात्री पृथ्वी पर पहुँचेंगे, तो अपनी हवाई की नाकवाला भाग अलग कर देंगे। इस भाग में वे स्वयं और उनकी सामग्री होगी। मशीन की यह वियुक्त नाक पवन में सुरक्षित रूप से तैरते हुए एक बड़े पैराशूट द्वारा धरातल पर उतर जायगी। परमाणु-शक्ति के आविष्कार से इसी प्रकार के अनेक असम्भव स्वप्न सम्भव होने जा रहे हैं। मौठ के दाने के बराबर परमाणु-शक्ति की गोली से आपकी मोटर-कार वर्ष भर चलती रहेगी और आप गर्मी-सर्दी चाहे जैसी ऋतु अपनी इच्छा से उत्पन्न कर सकेंगे।

डेविड-डीट्ज़ नामक एक सज्जन ने 'आनेवाले युग में परमाणु-शक्ति' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें वे हिरोशिमा पर गिराये जानेवाले परमाणु-बम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसे युग का आरम्भ करता है, जो हमारे वर्त्तमान युग से उतना ही भिन्न होगा, जितना हमारा यह युग प्राचीन मिस्र से भिन्न है। ग्रन्थकार डीट्ज़ अमरीका के स्क्रिप्स-होवर्ड समाचारपत्रों के विज्ञान-सम्पादक और वेस्टर्न रिज़र्व यूनिवर्सिटी में अध्यापक हैं। सन् १९३७ में उन्हें पत्र-सम्पादन-कला के लिए पूलिट्ज़र-पारितोषिक मिला था। इस समय मनुष्य के पास परमाणु-शक्ति के दो स्रोत हैं। एक है यूरेनियम-२३५। यह एक प्रकार का यूरेनियम ही है। दूसरा एक बिलकुल नवीन रासायनिक पदार्थ है, जिसे प्लूटोमियम

कहते हैं। हो सकता है कि यह पदार्थ सूर्य और तारागण के अन्तराल में हो; परन्तु यह पहले कभी पृथ्वी पर नहीं देखा गया था। प्रो० डीट्ज़ ने कहा है—"शक्ति के ये दो स्रोत अन्वेषण का आरम्भ हैं, अन्त नहीं। ... इस बात पर विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है कि मनुष्य-जाति को अन्ततः ऐसी शक्ति के उद्भव मिल जायँगे जो न केवल अनेक गुना अधिक प्रबल होगी, वरन् जिसे उत्पन्न करना अत्यन्त सरल भी होगा।"

परमाणु-शक्ति के आश्चर्यजनक कार्यों का वर्णन करते हुए डीट्ज़ ने कहा है कि फ़व्वारे से ढकेले जानेवाले हवाई-जहाज़ में बैठकर भूमध्य-रेखा के गिर्द बिना किसी जगह ठहरे २४ घण्टे में उड़ान लगाई जा सकेगी। यह आकाश-यान आकाश में सूर्य की प्रगति के साथ-साथ दौड़ेगा। इससे यदि वह दोपहर को उड़ना आरम्भ करेगा, तो जितनी देर वह उड़ता रहेगा और जहाँ कहीं भी पहुँचेगा, उसे दोपहर ही मिलेगी ; क्योंकि वह सूर्य के साथ-साथ भाग रहा होगा। पृथ्वी का निकटतम पड़ोसी चन्द्रमा है। वह २४०,००० मील दूर है। हवाई में बैठकर वहाँ की यात्रा हो सकेगी। इतने बड़े-बड़े हवाई-जहाज़ बनेंगे, जिनमें सहस्रों मनुष्य एक-साथ यात्रा कर सकेंगे और उनमें खेलने-कूदने के लिए यात्रियों को उतनी ही खुली जगह मिलेगी, जितनी आजकल आनन्द-विहार के जहाज़ों में होती है। अपने आप चलनेवाली मशीनरी की बहुत अधिक वृद्धि हो जायगी। इससे श्रमिकों को बहुत अवकाश हो जायगा और उनके काम करने के घण्टे इतने कम हो जायँगे कि लोग आश्चर्य से कहा करेंगे—क्या कभी श्रमिकों को सप्ताह में ४० घण्टे भी काम करना पड़ता था ! संसार से गोल्ड स्टैण्डर्ड (स्वर्ण का सिक्का) स्थायी रूप से उठ जायगा। कारण यह है कि परमाणु-शक्ति से वह बात सम्भव हो जायगी, जिसके स्वप्न प्राचीन रसायनी लोग देखा करते थे। अर्थात् घटिया धातुएँ स्वर्ण में परिवर्त्तित होने लगेंगी। आप जैसी

ऋतु चाहेंगे, वैसी बदलकर कर सकेंगे । बनावटी सूर्यों की सहायता से मकानों के भीतर भी मक्के और आलू की फ़सलें उसी प्रकार होने लगेंगी, जैसे आज खुले खेतों में होती हैं ।

डीट्ज़ का कहना है कि इसमें रत्ती-भर भी सन्देह नहीं कि परमाणु-शक्ति के युग में हम इस्पात के ऊँचे गुम्बदों पर कृत्रिम सूर्य चढ़े हुए देखेंगे । ऐसी प्रतिष्ठा में कोई लम्बी-चौड़ी मशीनरी नहीं होगी । एक ऊँचे मीनार पर एक चबूतरा बना होगा । उसपर एक बड़ा गोलक होगा, जिसमें एक उपयुक्त मशीनरी के मध्य में कुछ यूरे-नियम-२३५ धरी होगी । उसमें से नैसर्गिक सूर्य के प्रकाश के समान धूप और अल्ट्रा-वायलेट प्रकाश निकलेगा । कारण, जिस परमाणु-गत क्रिया से यूरेनियम-२३५ शक्ति को मुक्त करती है, वह उस क्रिया के तुल्य है, जो स्वयं सूर्य के भीतर हो रही है । इससे किसी भी स्थान और किसी भी ऋतु में आप सूर्य का चमकता हुआ प्रकाश प्राप्त कर सकेंगे, चाहे आकाश मेघाच्छन्न ही क्यों न हो ।

अपनी पुस्तक में उन्होंने पहले परमाणु-बम के बनाने की सारी कथा और हिरोशिमा पर इसके फेंके जाने का विशद वर्णन भी दिया है । उनका विश्वास है कि तीन कारणों से परमाणु-शक्ति के युग में विश्वव्यापी और स्थायी शान्ति रहेगी : (१) शक्ति उतने ही प्रचुर परि-माण में होगी, जितनी कि पवन है, इसलिए तैल या कोयले के लिए लड़ने की आवश्यकता न होगी । (२) सागर में से उसके विस्तीर्ण खनिज-पदार्थ निकालने के लिए परमाणु-शक्ति का प्रयोग करके प्रत्येक राष्ट्र वह कच्चा माल प्राप्त कर सकेगा, जिसकी उसे आवश्यकता है । फिर धनी और निर्धन राष्ट्र का भेद न रह जायगा । (३) जो परमाणु बम जापान पर गिराया गया था, उससे भी बहुत अधिक प्रबल एवं भयानक बम बनने से युद्ध इतना विनाशकारी हो जायगा कि कोई भी राष्ट्र उसे आरम्भ करने का साहस न कर सकेगा । कारण, युद्ध का अर्थ होगा प्रत्येक राष्ट्र का परस्पर नाश और सभ्यता का अन्त ।

विकासवाद

(श्री गुलाबराय एस. ए., एल-एल. बी.)

आज से प्रायः सौ बरस पहले श्रूसबेरी में डार्विन का जन्म हुआ था। विज्ञान की ओर चार्ल्स डार्विन की स्वाभाविक प्रवृत्ति विशेषतः जीव-शास्त्र के अभ्यास से हुई। जब वह इक्कीस-बाईस वर्ष का हुआ तो बीग्ल नाम के जहाज़ पर इसने पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की। दूर-दूर के टापुओं के रहनेवाले एक ही जाति के जन्तुओं में अनेक छोटे-छोटे भेद पाकर इसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि एक ही जाति के जन्तुओं में इतना अन्तर पड़ा। इसी विचार में डार्विन पड़ा था, कि प्राणी-वृद्धि पर लिखे हुए प्रबन्ध इसके हाथ लगे। उन लेखों में मैल्थस ने यह दिखलाया था कि प्राणियों की संख्या स्वभावतः इतनी बढ़ती रहती है कि यदि जीवन के विरोधी अनेक उपद्रव न होते, तो किसी जन्तु को खाने को न मिलता और रहने को पृथ्वी पर जगह न मिलती। मैल्थस के मत से जीव-धारियों की संख्या १, २, ४, ८, १६ के हिसाब से गुणोत्तर श्रेणी* में बढ़ती है; और खाद्य-पदार्थों की संख्या १, २, ३, ४, ५ के हिसाब से व्यक्त-श्रेणी † में बढ़ती है। लड़ाइयाँ, बीमारियाँ और संघर्षण आदि कारण जीव-धारियों की दिन दूनी, रात चौगुनी वृद्धि को रोक कर इनकी संख्या को उचित परिमाण से बाहर नहीं जाने देते। पर यह मत आजकल सर्वमान्य नहीं है।

इस बात को पढ़ कर डार्विन के चित्त में आया कि यदि ऐसी बात है, तो जीवन की इस प्रतिद्वन्द्विता में उन्हीं प्राणियों के बचने की सम्भावना है, जिन्हें किसी कारणवश ऐसी शारीरिक

---

* Geometrical Progression. † Arithmetical Progression.

रचना या शक्ति प्राप्त हो कि विशेष प्रदेशों में तथा और जन्तुओं की अपेक्षा प्राण बचाने का उन्हें अधिक सुभीता हो। जिन जन्तुओं को ऐसा सुभीता नहीं होगा, वे नहीं बच सकते। इस प्रकार जो जन्तु किसी कारणवश अपने विशेष निवासस्थान के योग्य शरीर रखते होंगे, उन्हीं की सन्तानें भी बढ़ेंगी। औरों की जाति या तो नष्ट हो जायगी या और कहीं जाकर रहेगी, जहाँ उनके लिए ठीक सुविधा हो। इसी 'योग्यतम की रक्षा' * वाले सिद्धान्त की बुनियाद पर डार्विन ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें मुख्य "जात्यन्तरों का मूल" (Origin of Species) और "मनुष्य की उत्पत्ति" (Descent of man) हैं। प्रतिद्वन्द्विता प्रकृति का एक नियम है। यह नियम शाश्वत और सार्वत्रिक है। यह प्रतिद्वन्द्विता प्राणियों की अति-वृद्धि से होती है, यही जीवन-संग्राम † का मूल है। बलवान् निर्बलों को नष्ट कर अपने को स्थित रखते हैं। ‡ इसलिए जिन प्राणियों में जीवन-रक्षा के लिए अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है, अर्थात् जैसी अवस्था आवे, उसी के अनुसार जो प्राणी अपने स्वभाव में परिवर्तन कर सकता है, वही बचता है और सन्तानवृद्धि भी कर सकता है।

इस जीवन-संग्राम के द्वारा गुणों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भेद होते गए; और वे भेद परम्परानुगत होने के कारण पुष्ट होते गए। इसी प्रकार अवस्थानुरूप परिवर्तन होते गए हैं और प्राणियों की भिन्न जातियाँ संसार में प्रकट हुई हैं, जिन्हें

---

* Survival of the Fittest. † Struggle for existence.

‡ इस सिद्धान्त की झलक नीचे के श्लोक में पाई जाती है—

अहस्तानि सहस्तानां पदानि च चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्॥

लोग भिन्न सृष्टि तथा स्वतंत्र समझते हैं।

इस विकास-सिद्धान्त के निश्चय के लिए पहले तो डार्विन को अपनी यात्रा में अनेक जन्तुओं का निरीक्षण करना पड़ा। फिर मैल्थस का ग्रन्थ पढ़ कर सन्तानवृद्धि की स्वाभाविक अतिप्रवृत्ति से प्रतिद्वन्द्विता का अनुमान हुआ। उसके बाद प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रकृति में जो योग्यता-निर्धारण या चुनाव * होता है, अर्थात् प्रकृति योग्य व्यक्तियों को चुन कर उनकी रक्षा करती है और अयोग्य या असमर्थ व्यक्तियों की उपेक्षा करती है, जिससे अन्त में उनका नाश हो जाता है, इस विषय की अनुभव के द्वारा परीक्षा करनी पड़ी। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निश्चय में ये ही तीन मुख्य व्यापार हैं—निरीक्षण, अनुमान और परीक्षा। डार्विन ने निरीक्षण और अनुमान किस प्रकार किया, यह ऊपर कहा गया है। परीक्षा में डार्विन को चार बातों से सहायता मिली। घोड़े, भेड़ आदि जन्तुओं को पालनेवाले अपने मतलब के लायक जन्तुओं का संग्रह करके उनमें से भिन्न प्रकार के व्यक्तियों को छाँटते जाते हैं; और इस तरह इच्छानुरूप जाति-वैभिद्य उत्पन्न कर लेते हैं। दूसरी बात यह है कि जिन पशु-पक्षी आदि की जातियाँ नष्ट हो गई हैं, उनका वर्तमान जातियों से बहुत सादृश्य दिखाई देता है। भेद प्रायः इतना ही रहता है कि नष्ट जातियाँ वैसी उत्तमता को प्राप्त न थीं, जैसी कि वर्तमान जातियाँ हैं। पृथ्वी पर जितनी जातियाँ हैं, उनमें पारस्परिक सादृश्य तीसरा प्रमाण है, जिससे हम लोग समझ सकते हैं कि किसी समय छोटे जन्तुओं की एक ही कोई जाति पृथ्वी पर थी जिनके सूक्ष्म अंडे या बीज जलवायु आदि के प्रवाह से समस्त भूमण्डल पर फैले, जिनसे विकासक्रम से स्वयं वर्तमान जातियाँ निकली हैं। विकास की साधक चौथी बात यह है कि गर्भावस्था में प्रायः

* Natural selection.

अनेक जन्तु एक ही से देख पड़ते हैं; और अनेक जन्तुओं में कितनी ही आरम्भिक इन्द्रियां* गर्भावस्था में पाई जाती हैं, जिनका पूर्ण विकास नहीं होता। इन सब बातों से 'प्राकृतिक चुनाव' † और 'योग्यतम की रक्षा' ‡ पूर्ण रीति से सिद्ध होती है।

डार्विन स्वयं इस बात को समझता था कि मेरी विकास-कल्पना+ के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल सकता। यह कल्पना तभी सिद्धान्तित हो सकती है, जबकि वैज्ञानिक परीक्षा में इसके विरुद्ध कोई विषय न मिले। पर यह बात काल के अधीन है। चिरकाल बीतने पर भी यदि विकास-कल्पना में वैज्ञानिक विरोध न आवे, तो इसे सिद्धान्त समझना चाहिए।

विकास-कल्पना में अन्तिम आपत्ति यह पड़ती है कि जिन भिन्न प्रकार के व्यक्तियों में से देशकालोपयुक्त व्यक्तियाँ प्रकृति से चुनी जाती हैं, रक्षित और परिवर्द्धित होती हैं, और तदनुसार नाना प्रकार के जन्तु संसार में प्रकट होते हैं, उन व्यक्तियों में प्रथम भेद कहाँ से आया? जन्तुओं के जाति-भेद का मूल बतलाती हुई विकास-कल्पना जब अन्तिम व्यक्ति-भेद पर पहुँचती है, तब सर्वथा अड़ जाती है और कुछ नहीं कह सकती। इस आपत्ति को डार्विन खूब समझता था और यह उसे मानना पड़ा था कि अवस्था-भेद से तथा इन्द्रियों और शक्तियों के उपयोग और अनुपयोग से व्यक्तियों में प्रथम भेद उत्पन्न होते हैं। सरदी गरमी आदि अवस्थाओं के भेद से व्यक्तियों में भेद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिस अंग या शक्ति का उपयोग हो, वह अंग या शक्ति सुरक्षित रहती है; और जिसका उपयोग न हो, बहुधा उसके नष्ट

---

* Rudimentary. † Natural Selection.

‡ Survival of the Fittest. + Evolution Hypothesis.

होने की संभावना रहती है। इन कारणों से या और किसी कारणान्तर से व्यक्तियों में जो भेद पड़ता है, उन भेदों की कैसे रक्षा, वृद्धि आदि होती है, यह दिखलाना डार्विन का प्रधान उद्देश्य था।

जिस प्रकार छोटे-से-छोटे जन्तुओं से विकासक्रम से बड़े जन्तु उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही बड़े जन्तुओं के उत्पत्तिक्रम से अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मनुष्य की बुद्धि और शरीर का पशु की बुद्धि और शरीर से कुछ ऐसा भेद नहीं है, जिससे मनुष्य विकासक्रम से बाह्य समझा जाय। मछलियों के शरीर और बुद्धि से जितना बन्दर की बुद्धि और शरीर में भेद है, उससे कहीं थोड़ा भेद बन्दर और मनुष्य में है। इसलिए मछलियों से कछुआ आदि क्रम से जैसे बन्दरों का आविर्भाव हुआ, वैसे ही बन्दरों से मनुष्यों के आविर्भाव में कुछ आश्चर्य नहीं मानना चाहिए।

डार्विन के मत से बन्दर यदि मनुष्य के पूर्वज नहीं हैं, तो उनके चचेरे भाई अवश्य हैं। अर्थात् बन्दरों और मनुष्यों के पूर्वज एक ही हैं। पशुओं में स्मृति, सौन्दर्यज्ञान, सहानुभूति आदि मनुष्य ही के सदृश हैं। विवेक भी पशुओं में वर्तमान है; नहीं तो घोड़े आदि पशुओं की शिक्षा नहीं हो सकती है। इसलिए कीड़ों से लेकर मनुष्य तक विकासक्रम निर्विवाद समझना चाहिए। यदि हम बीच की श्रेणियों को छोड़कर मनुष्य और प्रारम्भिक कीटाणु में भेद देखें, तो वह भेद बहुत भारी मालूम होता है। किन्तु यदि इस भेद को क्रमानुगत रूप से देखें, तो यह भेद आश्चर्यजनक न मालूम होगा। यदि हम मनुष्यकृत यन्त्रों या गृह आदि अन्य पदार्थों का इतिहास देखें, तो भी यही बात मालूम होगी कि अन्तिम और प्रारम्भिक अवस्था में जमीन-आसमान का अन्तर है। किन्तु यदि इस क्रम से उन्नति की श्रेणियों पर ध्यान दें, तो यह अन्तर आश्चर्यजनक न मालूम होगा।

डार्विन ने पारस्परिक विरोध या प्रतिद्वन्द्विता शाश्वत और सार्वत्रिक मानी है जिससे कई धार्मिक दार्शनिकों को बड़ी घृणा हुई; क्योंकि यदि विरोध ही जगत् का स्वभाव होता, तो उपकार, सहानुभूति आदि की स्थिति संसार में कैसे पाई जाती ! पर डार्विन का कहना है कि उपकार, सहानुभूति, धर्म आदि सब गुण व्यक्तियों में अपनी निजी या अपनी जाति की रक्षा के लिए पाये जाते हैं। शुद्ध स्वार्थ-निरपेक्ष कोई गुण नहीं है। सहानुभूति आदि गुणों को रखनेवाले जन्तु सहानुभूति-शून्य जन्तुओं की अपेक्षा अपनी रक्षा की अधिक आशा रखते हैं। इसलिए सहानुभूति आदि गुण भी स्व-रक्षा-हेतुक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी खयाल रखना चाहिए कि सहानुभूति, परार्थ आदि गुण केवल मनुष्यों में ही नहीं हैं। कितने ही पशुओं में भी ये गुण अधिकता से पाये जाते हैं। जब ऐसी अवस्था है, तब उस बन्दर से उत्पन्न होना अच्छा है जो अपने स्वामी के लिए अपने प्राण देने को तैयार होता है या उस असभ्य मनुष्य से जो अपने पड़ौसी को पीड़ा देने में अपना सुख मानता है और उसके लड़के-वालों को मार कर अपना जीवन धन्य समझता है ?

सामाजिक सहानुभूति, स्मृति, विचार और भाषा की शक्ति आचार ज्ञान के लिए अपेक्षित है। अपने किये हुए कार्यों को मनुष्य स्मरण करता है और एक कार्य को दूसरे कार्य से मिलाकर विचारता है कि वर्तमान अवस्था के लिए उन कार्यों में से कौन ठीक होगा। जो कार्य अधिक लोगों की प्रशंसा पाते हैं, भाषा-ज्ञान होने के कारण, उन कार्यों में मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति होती है; और निन्दित कार्यों से जी हटता है। धीरे-धीरे, प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि मनुष्य स्वभावतः ऐसे ही कार्यों की ओर चलने लगता है। इसके अतिरिक्त सहानुभूति और परार्थ-प्रवृत्ति आदि में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे विकास-

सिद्धान्त में कोई बाधा पड़े।

ईश्वर के विषय में मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँच सकती, यह समझकर डार्विन प्रायः कुछ नहीं कहता था। लोगों का दुःख देख कर कारुणिक और सर्वज्ञ ईश्वर मानने में कभी-कभी डार्विन को आपत्ति पड़ती थी; क्योंकि वह समझता था कि यदि इस जगत् का कारुणिक परम ज्ञानवान् शासक होता, तो अपने उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उत्तम-से-उत्तम और दुःख-रहित संसार की कल्पना कर अपनी करुणा से उसे वैसा ही बनाता।

डार्विन ने अनुभव आदि और भी दार्शनिक विषयों पर अपना मत प्रकाशित किया है, जो स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा सकता।

विश्वसंघ की ज़रूरत

(श्रीभगवानदास केला तथा श्रीसुन्दरलाल)

मानव जाति के इतिहास में विश्व-राज्य की एक निश्चित, किन्तु कुछ बिखरी हुई सूचना है। पहले मनुष्यों की व्यक्तिगत सत्ता न थी; सब अधिकार बड़ों या बुजुर्गों का होता था—बड़ा कभी घर का बूढ़ा और कभी समाज, जाति या धर्म का नेता होता था। धीरे-धीरे केवल बड़े-बूढ़ों की हकूमत हट कर मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता भी मानी जाने लगी। उसका संगठन शुरू हुआ। मनुष्य की ज़रूरतों और उसकी अन्दर की प्रेरणाओं ने मिलकर व्यक्तियों का परिवार बनाया, परिवारों के वंश बनाये, वंशों से कबीले या कुल बने, कुलों का राष्ट्र बना और राष्ट्रों का साम्राज्य या संघ-राज्य। साम्राज्यों का रूप अब बहुत हानिकर हो गया है। जनता अब संघ-राज्यों से बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रही है। पर क्या संसार में कई संघ-राज्यों का होना हितकर होगा? मनुष्य चिरकाल से संगठन करता आ रहा है। यह संगठन का काम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सब

संसार के आदमियों का एक संगठन इतना विशाल न हो जाय कि उसमें सारी मानव जाति समा जाय—कोई भी हिस्सा उससे बाहर न रहे।

जिन कारणों से व्यक्ति से परिवार और परिवार से धीरे-धीरे वंश, कबीला, जाति, राष्ट्र और साम्राज्य बने, वे कारण अब भी मौजूद हैं। इसलिए यह नतीजा बिल्कुल तर्क-संगत है कि साम्राज्य से आगे बढ़ना अनिवार्य है। मनुष्य ने अपने उत्थान में जो सीढ़ियाँ पार की हैं, उनमें दो परस्पर विरोधी कारणों का पता चलता है। मनुष्य में प्रेम की भावना है, और जब प्रेम का क्षेत्र सीमित रहता है, तो उस क्षेत्र के बाहर के लोगों से वह लड़ाई-झगड़ा करता है। जब परिवार बना, तो परिवार के सदस्य एक-दूसरे के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हुए। पुरुष स्त्री से और स्त्री पुरुष से और दोनों अपनी सन्तान से खूब प्यार करते हैं; यहाँ तक कि वे इसमें किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी का होना सहन नहीं कर सकते। पुरुष और स्त्री की यह खुली चुनौती रहती है कि जितना प्यार हम एक-दूसरे से और अपनी सन्तान से करते हैं, उससे ज्यादा कोई भी दूसरा नहीं कर सकता। परन्तु इनके प्रेम का क्षेत्र सीमित था; ये अपने परिवार से बाहर के व्यक्तियों से लड़े-झगड़े। एक परिवार दूसरे परिवारों से लड़ा। जब इन परिवारों की एक जाति बनी, तो परिवारों के आपसी युद्ध का अन्त हुआ। एक जाति के अन्तर्गत परिवारों ने आपस में प्रेम और सहयोग से रहना सीख लिया। परन्तु पुराने संस्कारों के कारण एक जाति दूसरी जाति से लड़ती रही। धीरे-धीरे पास रहनेवाली और एक-दूसरे से लड़नेवाली जातियों ने देखा कि आपस में मेल किये बिना गुज़र नहीं, इस पर वे आपस में दूध और चीनी की तरह ऐसी मिल गईं कि देखनेवाले के लिए वह मिश्रण या मिलावट न मालूम हो

कर एक ही चीज़ हो गईं। एक कौम या राष्ट्र के अन्दर जितने व्यक्ति, परिवार या जितनी जातियाँ होती हैं, वे सब अपनी अलहदगी को और पुराने झगड़ों को भुला देती हैं, और एक-दूसरे की भलाई के लिए भारी कुर्बानी या त्याग करने लगती हैं और तरह-तरह की तकलीफें उठाने को तैयार रहती हैं। उनमें से एक का दुःख सब का दुःख होता है, और एक के सुख में सब सुखी होते हैं।

सामाजिक संगठन और आगे बढ़ता गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्पर्क में आया। कुछ राष्ट्र यदि मित्रता या स्नेहवश आपस में मिले, तो अनेक बार एक राष्ट्र की स्वार्थपरता ने उसे दूर-दूर तक नज़र दौड़ाने और जिस प्रदेश पर उसका वश चले उसे हथियाने को मजबूर किया। यह काम चुप-चाप शान्ति के साथ नहीं हो गया। बुरे-भले सभी तरीके काम में लाये गये। साम, दाम, दण्ड, भेद, किसी भी उपाय को उठा नहीं रक्खा गया। लड़ाई-झगड़े हुए, खून-खच्चर हुआ, महीनों या वर्षों ही नहीं, कहीं-कहीं सदियों के हिंसाकाण्ड के बाद राष्ट्रों ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाया। राष्ट्रों ने जो साम्राज्य-निर्माण की तरफ़ कदम बढ़ाया, उसमें मानव-प्रगति की पहली मंज़िलों की तरह, बल्कि उनसे भी बढ़कर लड़ाई-झगड़ों की सीढ़ियाँ पार की गई हैं। फिर भी इन सब लड़ाई-झगड़ों में मनुष्य की उन्नति का तत्व छिपा रहा है।

समाज-संगठन में बढ़ते-बढ़ते हम साम्राज्य तक आये। पर आजकल के साम्राज्य अपने अधीन देशों का शोषण करते हैं और एक-दूसरे से ईर्षा करते और लड़ते-झगड़ते हैं। उनके आपसी महायुद्ध हमें चेतावनी दे रहे हैं कि इस समय की विश्व-व्यवस्था ठीक नहीं है। इसमें जड़-मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

मनुष्य ने साम्राज्य के अलावा एक और भी प्रयोग किया—

संघ-राज्य का। कई-कई राज्यों की आत्मरक्षा के लिए या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए, मिलकर एक संघ-राज्य बना। संघ ने अपने अन्दर के निवासियों का हित-साधन किया, पर इसमें भी वह वर्ण-भेद यानी काले-गोरे के रोग से नहीं बच पाया। अपने क्षेत्र से बाहर के राज्यों से उसका व्यवहार साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह ग़ैरियत या परायेपन का होता है। संघ-राज्य भी दूसरे देशों को अपने अधीन बनाये रखने और उनका शोषण करने का अभिलाषी होता है, जैसाकि हम अमरीका के संयुक्त-राज्यों के विषय में जान चुके हैं।

निदान, साम्राज्य हों या संघ-राज्य हों, इन संगठनों ने संसार को ऐसे अलग-अलग टुकड़ों में बांट रखा है, जिनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं। फिर, दुनिया का काफ़ी हिस्सा ऐसा रहता है, जो उनके क्षेत्र से बाहर होता है। और जब तक कोई भी हिस्सा ऐसा रहेगा, जिसे हम अपना न समझकर पराया या ग़ैर मानें, या जो अपने-आपको अलग रखे और दूसरों के सुख-दुःख से बेपरवाह रहे, तब तक टिकाऊ शान्ति नहीं हो सकती, आगे-पीछे युद्ध होना अनिवार्य रहेगा।

यह बात इतनी सीधी और साफ़ है कि इस पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु कितने ही बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी संसार की नई व्यवस्था या विश्व-शान्ति की योजनाएँ बनाते समय, इसे भूल जाते हैं।

सन् १९३९ में, वर्तमान (दूसरा) महायुद्ध शुरू होने से पहले लन्दन में 'फेडरल यूनियन' नाम की एक संस्था क़ायम की गई। इस संस्था का उद्देश्य है संसार भर के प्रजातन्त्र राज्यों का, संयुक्त-राज्य अमरीका के ढंग पर, एक विश्व-संघ क़ायम करना। इस पर श्री क्लीरेंस के० स्ट्रेट नाम के अंग्रेज लेखक ने 'यूनियन नाऊ' नाम की पुस्तक लिखी है। लेखक ने कहा है कि इस तरह का

विश्व-संघ क़ायम करने में कई रुकावटें हैं, जैसे (क) फ़ासिस्ट सरकारें इसका विरोध करेंगी और (ख) ख़ासकर एशिया और अफ़्रीका में ऐसे बहुत से राज्य हैं, जो अभी बहुत पिछड़े हुए हैं। परन्तु जब तक ये रुकावटें दूर न हों, हमें हाथ पर हाथ धरे न बैठे रहना चाहिए। पहले दुनिया के सब प्रजा-तन्त्र राज्यों को विश्व-संघ में शामिल होजाना चाहिए। बाद में दूसरे राज्य भी, यदि वे प्रजा-तन्त्र को अपनी शासन-प्रणाली का आधार मान लें, तो शामिल हो सकेंगे। लेखक ने इस संघ में शामिल करने के लिए १५ राज्यों के नाम गिनाये हैं—(१) संयुक्तराज्य अमरीका, (२) ब्रिटेन, (३) फ्रांस, (४) कैनेडा, (५) नेदरलैण्ड, (६) बैलजियम, (७) आस्ट्रेलिया, (८) स्वीडन, (९) स्विट्ज़रलैंड, (१०) डेनमार्क, (११) फ़िनलैंड, (१२) आयरलैंड, (१३) नार्वे, (१४) दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन और (१५) न्यूज़ीलैंड।

इस संघ में इटली, जर्मनी और जापान जैसे फ़ासिस्ट राज्यों को जगह नहीं दी गई। इसमें सोवियट-प्रजातन्त्र-संघ की भी कोई जगह नहीं है और एशिया को तो इस 'विश्व-संघ' की योजना से बिल्कुल ही बाहर रखने की कोशिश की गई है। क्या एशिया के दो बड़े-बड़े देश चीन और हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र-वादी नहीं हैं ? फिर उन्हें इस योग्य क्यों नहीं समझा गया ? न्यूज़ीलैंड जैसे छोटे-से उपनिवेश को विश्व-संघ में जगह मिल सकती है, पर हिन्दुस्तान जिसमें ४० करोड़ की आबादी है और जिसकी सांस्कृतिक परम्परा का संसार ऋणी रहा है, उसे बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह उपेक्षा वास्तव में हास्यास्पद ही नहीं है, यह संसार को शान्ति—स्थायी शान्ति—के स्थान पर स्थायी महासंकट की ओर लेजाने वाली है। संयुक्तराज्य अमरीका को और ब्रिटेन को इस सूची में मुख्य स्थान दिया गया है। किन्तु उन्हें असल में प्रजातन्त्रवादी तभी कहा जा सकता है, जब ये अपने अधीन देशों

आज़ाद कर दें और साम्राज्यवाद का अन्त कर द। अभी तो ये एशिया और अफ्रीका के बहुत-से हिस्सों में और जगह-जगह अनेक टापुओं में, किसी-न-किसी रूप में अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। श्री स्ट्रेट ने अपनी योजना में पिछड़े हुए देशों को 'विश्व-संघ' में शामिल होने के योग्य ही नहीं माना। ऐसे लेखकों की दृष्टि में 'विश्व' का अर्थ सम्पूर्ण विश्व न होकर बहुत दरजे तक 'गौरांग-विश्व' ही होता है।

पर, जैसा कि डाक्टर वेनीप्रसाद के 'योगी' में प्रकाशित, एक लेख में कहा गया है,—"जब तक एशिया, अफ्रीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों में साम्राज्यवादी शोषण और विदेशी शासन क़ायम रहेंगे, तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। तब तक बहुत ही सतर्कता और दूरंदेशी के साथ तैयार किया हुआ मसविदा भी अकाल-कवलित हो जायगा। जब तक इन भू-भागों पर शासन करनेवाले लोग अपने शासितों को अपनी विलास-सामग्री जुटाने का साधनमात्र समझते रहेंगे, तब तक शान्ति क़ायम नहीं हो सकती। किसी दूसरे देश की कमज़ोरी से लाभ उठाकर उसका शोषण करने और उसके बाशिन्दों को उच्च जीवन व्यतीत करने योग्य न बनने देने से तो युद्ध की विभीषिका दिनों-दिन बढ़ती ही जायगी"।

हमें ध्यान रखना चाहिए कि जब बहुत-से छोटे-छोटे राज्य होते हैं, तो बहुत-सी छोटी-छोटी लड़ाइयाँ होती हैं। जब बड़े-बड़े राष्ट्र-राज्य, साम्राज्य या संघ-राज्य बन जाते हैं, तो लड़ाइयाँ कम हो जाती हैं, पर उनका फैलाव और भयंकरता बढ़ जाती है। इतिहास से पता चलता है कि विविध राज्यों का एक-दूसरे से लड़ने का मानो नियम ही है। 'राज्य' झगड़ालू रहा है; इस समय भी उसका स्वभाव लड़ने का है भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। जब तक बहुत-से राज्य हैं, तब तक उनमें युद्ध होंगे। जब तक एक

से अधिक राज्य होंगे, चाहे वे दो ही क्यों न हों, युद्ध टल नहीं सकते। जब द्वैतभाव का अन्त हो जायगा, जब 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' की स्थिति आजायगी, तभी युद्धों और महायुद्धों का अन्त होगा। शान्ति चाहती है कि विश्व-बन्धुत्व के आधार पर विश्व में केवल एक राज्य का संगठन हो। संसार में विश्व-राज्य की स्थापना ज़रूरी है—संहार-कार्य को बन्द करने के लिए और सभ्यता की रक्षा के लिए। पहले की बात छोड़ भी दें, तो दूसरे महायुद्ध का अनभव हमारे सामने है। संसार में जब तक बहुत से अलग-अलग राष्ट्र कुछ संघ-राज्य और कुछ साम्राज्य हैं, तब तक शान्ति नहीं रह सकती। यदि महायुद्ध के फलस्वरूप एक-दो साम्राज्यों का लोप भी हो जाय, तो भी काम न चलेगा। जब तक एक से अधिक अलग-अलग राज्यों का अस्तित्व रहेगा, तब तक छोटे राज्यों की स्वाधीनता खतरे में रहेगी; बलवान् मौका पाकर निर्बल को धर दबावेगा, या कुछ राज्य मिलकर, अपनी शक्ति बढ़ा कर दूसरों का रहना मुश्किल कर देंगे। इससे भली भाँति सिद्ध होता है कि संसार भर के सब राज्यों का एक संघ-राज्य यानी विश्व-राज्य होने की अनिवार्य आवश्यकता है। पृथ्वी पर राजनैतिक संगठन केवल एक ही होना चाहिए। एक राज्य, एक झंडा, एक नीति, एक आदर्श, एक जीवन, यह हमारा लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति संधियों या समझौतों से होनेवाली नहीं है। ज़रूरत है कि नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सब दृष्टिकोणों से काम लिया जाय। नैतिक दृष्टि से आपको और मुझे—हर व्यक्ति को—युद्ध से वैसे ही बचना चाहिए, जैसे हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में चोरी या हत्या से बचते हैं। सामूहिक हत्या वैसी ही ग़लत है, जैसी व्यक्तिगत हत्या। सांस्कृतिक दृष्टि से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो विश्व-इतिहास, विश्व-साहित्य और विश्व-भाषा के पढ़ने-पढ़ाने से उनमें बन्धुत्व की

भावना पैदा करे। राजनैतिक दृष्टि से विश्व-नागरिकता का प्रचार करके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद को मिटाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से पूँजीवाद की जगह लोकतंत्रात्मक समाजवाद को दी जानी चाहिए।

चेतना-प्रवाह

(श्री पं० चन्द्रमौलि सुकुल)

मनुष्य जब तक जागता रहता है, और कभी-कभी सोते समय भी, अर्थात् स्वप्नावस्था में, उसको चेतना रहती है। हम कहते हैं कि पत्थर जड़ है और मनुष्य चेतन, अर्थात् मनुष्य सोच-विचार कर सकता है, उसे सुख-दुख होते हैं, वह इच्छा करता है, स्मरण रखता और ध्यान देता है। ये ही सब चेतना के काम हैं और इनमें से हर एक को 'मनोवृत्ति' कहते हैं। मनोवृत्तियां मनुष्य के मन में आती-जाती और बदलती रहती हैं। एक क्षण में एक मनोवृत्ति हुई, तो दूसरे क्षण में दूसरी आ गई। अब देखना चाहिए कि इन मनोवृत्तियों के मुख्य लक्षण क्या हैं?

चेतना की उपमा नदी से दी जाती है। जैसे नदी का प्रवाह अनवच्छिन्न अर्थात् लगातार होता है, वैसे ही चेतना का प्रवाह भी; उसमें बीच में अंतर नहीं पड़ता। ऐसा नहीं होता कि मन में एक वृत्ति आकर समाप्त हो गई, तब कुछ अन्तर देकर दूसरी वृत्ति आई, किन्तु एक वृत्ति के रहते-रहते ही उसमें कुछ परिवर्तन होकर दूसरी वृत्ति हो जाती है। नदी में लहरें उठती हैं, और एक लहर की समाप्ति के पहले ही दूसरी लहर का प्रारंभ हो जाता है, यही दशा मनोवृत्तियों की भी है। साधारण बोल-चाल में भी कहते हैं कि यह हमारे मन की लहर है। एक उदाहरण लीजिए। माली ने आकर आपके सामने गुलाब का फूल रख दिया; उसकी शोभा देखकर आपको आनन्द हुआ,

अर्थात् चित्त में यह वृत्ति पैदा हुई कि यह गुलाब का फूल बड़ा ही सुन्दर है। अब विचार कीजिए कि यह वृत्ति बिना किसी परिवर्तन के कितनी देर तक आपके मन में ठहर सकती है। कदाचित् आप कहें कि यह हमारी इच्छा पर अवलंबित है। यदि हम चाहें, तो दस-पन्द्रह मिनट क्या, घंटे-आध घंटे तक उसी फूल को देखते रहें और फूल की शोभा का विचार अपने मन में स्थायी रक्खें। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। आपकी मनोवृत्ति क्षण-भर से अधिक—एकाध सेकेण्ड से अधिक—नहीं ठहर सकती। आप फूल पर एक घंटे तक दृष्टि रख सकते हैं, परन्तु मनोवृत्तियों में बराबर परिवर्तन होता जायगा। आपका ध्यान कभी उस फूल की पंखुड़ियों पर, कभी उसकी ललाई पर, तथा कभी उसकी केसर पर जायगा; और, यदि आपने ध्यान की बागडोर तनिक ढीली कर दी, तो आपकी मनोवृत्तियाँ न-जाने कहां-कहां पहुँच जायँगी। कभी आप उस फूल के पेड़ का स्मरण करेंगे, तब सोचेंगे कि यदि पेड़ में अधिक खाद दी जाती, तो फूल और भी बड़ा होता। तब सोचेंगे कि अब की बार अमुक अहीर की गोशाला से खाद लाएँगे। अहीर का स्मरण आते ही आपके मन में उसके पुत्र-शोक की लहर उठेगी, और आप दुःखी होंगे। उसी प्रसंग में किसी और का स्मरण आवेगा, जिसको उसी प्रकार का दुःख पड़ा हो। इसी प्रकार विचारों का सिलसिला बराबर लगा रहेगा।

अब, मान लीजिए, जिस समय माली फूल लाया था, वहाँ पर कई आदमी बैठे थे। फूल को देखकर आपके मन में तो उपर्युक्त वृत्तियां पैदा हुईं; परन्तु और आदमियों की क्या दशा हुई? सबके मन में एक ही प्रकार की वृत्तियां न उठी होंगी। उसी फूल को देखकर किसी को गुलाब के इत्र का ख़याल आया होगा, फिर उससे जौनपुर या कन्नौज का ख़याल आया होगा, जहां इत्र के कार्यालय हैं। जौनपुर से गोमती नदी का, तब गंगा नदी का, तब गंगा नदी

में किसी समय अपने स्नान करने का, तब स्नान के समय वर्तमान किसी मित्र का, तब उस मित्र की चिट्ठी न आने का, तब उसका कुशल समाचार जानने के लिए पत्र लिखने का ख़याल आया होगा, और विचारों की लड़ी इस प्रकार जारी रही होगी।

तीसरे आदमी को वही गुलाब का फूल देखकर कमल का, तब किसी महात्मा के चरण-कमलों का, तब उस महात्मा के उपदेशों का, तब उपदेशमय पुस्तकों का, तब पुस्तकों की महँगाई का, तब योरुप के महासमर का क्रम-क्रम से स्मरण आया होगा, और विचारों की शृंखला अविच्छिन्न चली गई होगी।

इसी प्रकार उस समय जितने आदमियों ने फूल देखा होगा, सब के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ आई होंगी, और अपनी-अपनी रीति से जमी रही होंगी। यद्यपि मनोवृत्तियाँ सब के मनों में भिन्न-भिन्न उठी होंगी, तथापि इन मनोवृत्तियों के उठने की रीति सब आदमियों के लिए समान ही थी, अर्थात् एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति का पैदा होना और किसी आदमी की सब वृत्तियों का लगातार एक सिलसिले में रहना।

अब चेतना के मुख्य लक्षणों का सारांश देखिए:—

चेतना की जो वृत्ति होगी, वह किसी की वृत्ति अवश्य होगी। वृत्तियाँ वायु-मंडल में इधर-उधर उड़ती नहीं फिरतीं, किन्तु चेतनावाले किसी प्राणी की वृत्तियाँ होती हैं।

प्रत्येक प्राणी की मनोवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों की मनोवृत्तियों से अलग होती हैं। आपकी मनोवृत्तियाँ आपके मन में हैं, मेरी मेरे मन में, देवदत्त की देवदत्त के मन में, यज्ञदत्त की यज्ञदत्त के मन में। हाँ, यह सम्भव है कि किसी वस्तु को देखकर आपकी और मेरी मनोवृत्तियों का सिलसिला किसी अंश में समान हो परन्तु आपकी मनोवृत्तियों से मेरी मनोवृत्तियों का सम्बन्ध नहीं है। मनोवृत्तियों की पूर्ण समानता

असंभव है।

मनोवृत्तियां नदी की धारा के समान लगातार चलती हैं। उनमें अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु बराबर परिवर्तन होता जाता है। कोई भी मनोवृत्ति एक ही रूप में एक क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती।

यद्यपि एक मनोवृत्ति का सम्बन्ध सैकड़ों मनोवृत्तियों से हो सकता है, तथापि पहली मनोवृत्ति का संकेत पाकर केवल एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है। एक ही गुलाब के फूल को देख कर अनेक आदमियों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियां (पेड़ का स्मरण, इत्र का स्थान, कमल का स्मरण) पैदा हुईं, परन्तु किसी के मन में सब वृत्तियां एक-साथ नहीं आईं। सारांश यह कि कोई भी मनोवृत्ति अपने से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी मनोवृत्तियों में से किसी एक को चुन लेती है, और वह चुनी हुई मनोवृत्ति उस पहली मनोवृत्ति के पश्चात् उपस्थित होती है।

अब मनोवृत्तियों के एक विशेष स्वभाव या धर्म का हाल जानने के लिए उदाहरण लीजिए। मैं इस समय लिख रहा हूँ, मेरा ध्यान लिखने में ही लगा है। परन्तु दिन कुछ चढ़ चुका है। हवा बंद है। गरमी हो रही है। गरमी के कारण शरीर को क्लेश पहुँच रहा है; लिखने में ध्यान रहने पर भी गरमी की थोड़ी-सी भावना मन में लगी है। घड़ी भी सामने रक्खी है और थोड़ी देर हुई कि उसमें देखा था साढ़े-नौ बज चुके थे; तब से देर होने का खयाल भी मन के एक कोने में पड़ा है। पेड़ के नीचे बच्चे खेलते और चिल्लाते हैं, जिससे मेरे लिखने में विघ्न हो जाता है; और मेरे मन में कई मिनट से बहुत हलकी-सी यह भावना उठ रही है कि यह पैराग्राफ़ लिख कर बच्चों को यहां से हटा दूँ। गरमी, देर और चिल्लाने से मेरे

लिखने में कुछ विघ्न तो अवश्य पहुँचा, परन्तु लिखने से ध्यान नहीं हटा। निदान, बच्चों की चिल्लाहट बहुत बढ़ी और लिखने से मेरा ध्यान उचट गया। तब मैंने डाँट कर बच्चों को वहां से हटाया। बीच में एक बार घड़ी की खटखटाहट से मेरा ध्यान कुछ बँट गया था; परन्तु मैंने उसी दम अपने ध्यान को सँभाल कर फिर लिखने में लगा दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यद्यपि मेरी मनोवृत्ति के केन्द्र में लिखने का ध्यान था, तथापि केन्द्र के इर्द-गिर्द गरमी, देर और चिल्लाने के भावों का हलका-सा प्रभाव था। पर सबका प्रभाव बराबर नहीं था; किसी का कम, किसी का कुछ अधिक। लिखने, गरमी, देर, चिल्लाहट और सम्भवतः और भी दो-एक बातों के अंश मेरी मनोवृत्ति में अवश्य उपस्थित थे। विशेष ध्यान तो लिखने ही पर रहा; गरमी, देर और चिल्लाहट का बल गौण अर्थात् दूसरे-तीसरे दर्जे का था। परन्तु इन गौण बातों में भी कभी एक का बल अधिक हो जाता था, कभी दूसरी का। एक बार घड़ी की खटखटाहट ने लिखने की वृत्ति को केन्द्र से बाहर निकाल दिया और स्वयं विचार के केन्द्र पर अधिकार कर लिया। परन्तु यह अधिकार देर तक न रह सका। कारण, लिखने का विचार केन्द्र से दूर नहीं भागा था, और दूसरे ही क्षण उसने अपना अधिकार फिर से स्थापित कर लिया। इसी प्रकार बच्चों की चिल्लाहट ने भी एक बार बड़े बल के साथ ध्यान का केन्द्र ले लिया।

सारांश यह कि हर एक मनोवृत्ति में एक ही साथ कई विचार रहा करते हैं; परन्तु सबका बल बराबर नहीं होता। जिसका बल सबसे अधिक होता है, अर्थात् जो विचार ध्यान के केन्द्र में रहता है उसीके नाम से वह मनोवृत्ति कही जाती है। परन्तु इन विचारों में बड़ा परिवर्तन होता रहता है। कभी केन्द्र का विचार

केन्द्र ही में रहता है और दूरवाले विचारों के बल में परिवर्तन हो जाता है। कभी केन्द्रवाले विचार को केन्द्र-स्थान से हटा कर वहाँ पर कोई अन्य विचार आजाता है। मन की दशा किसी अराजक देश के समान है। जहाँ जिसका अधिक बल हुआ, वही गद्दी पर बैठ गया और अपने अनुकूल लोगों को उसने मंत्री, सदस्य, कोषाध्यक्ष आदि बना लिया। इन सभासदों में भी कभी किसी का बल अधिक हो गया और कभी किसी का। फिर, यदि इन सभासदों में से किसी ने या अन्य किसी ने देखा कि मेरा बल अधिक है, तो उसने गद्दी छीन ली, सभासद वैसे-के-वैसे ही बने रहे, या उनके अधिकारों में परिवर्तन हो गया, कुछ निकाल अथवा बदल दिये गए, या सब-के-सब अलग कर दिये गए और उनकी जगह दूसरे नियत किये गए।

अध्यापक के काम में सबसे बड़ी कठिनता यही होती है कि बच्चे के मन में एक ही साथ बहुत-से विचार आते हैं। कभी एक विचार का बल अधिक हो जाता है, कभी दूसरे का। परिणाम यह होता है कि बच्चे का मन जम कर किसी एक ही विचार पर नहीं लगता। तब कहते हैं कि अमुक बच्चे का ध्यान पढ़ने में नहीं जमता। इस दशा में अध्यापक का लक्ष्य यह होता है कि जिस विषय को वह पढ़ाना चाहता है, उसमें बच्चों की ऐसी रुचि पैदा कर दे कि उस रुचि के प्रभाव से बच्चों का ध्यान दूसरे विषय पर जा ही न सके। ऐसे अध्यापक का काम उस सेनापति के काम के समान होता है, जो शत्रु-सेना को दो ओर पहाड़ियों और तीसरी ओर जल से घिरे हुए स्थान में जाने के लिए विवश करता और चौथी ओर से उस पर स्वयं आक्रमण करता है। शत्रु को तब किसी ओर भागने का अवकाश नहीं रहता; इस दशा में सेनापति को विजय अवश्य प्राप्त होती है। इस सेनापति की चतुरता इतनी नहीं होती कि वह शत्रु-सेना को घिरे हुए स्थान में ले जाता है,

किन्तु वह ऐसा उपाय भी करता है कि शत्रु-सेना स्वयं ही उस स्थान पर जाती है और यह नहीं समझती कि उस स्थान पर उसका जाना उस सेनापति की चतुरता का परिणाम है। इसी प्रकार चतुर अध्यापक कभी बच्चों पर यह नहीं प्रकट करता कि मैं तुम्हें पाठ के विषय के सिवा अन्य विषय पर ध्यान न देने दूँगा। परन्तु वह ऐसा उपाय करता है कि जिस विषय को वह चाहता है, उसके अलावा कोई भी दूसरा विषय बच्चे नहीं सोच सकते। वह उस विषय में बच्चों की इतनी रुचि पैदा कर देता है कि वे तीन ओर से घिर जाते हैं और चौथी ओर से अध्यापक अभीष्ट विषय को बड़े उत्साह के साथ उपस्थित करता है। ऐसे पाठ का प्रभाव बच्चों के हृदय से आजन्म नहीं मिटता।

चेतना की उपमा नदी से दे ही चुके हैं। कल्पना कीजिए कि किसी नदी का पाट सौ हाथ है और उस पाट की औसत गहराई १० हाथ। उसी नदी का पाट कुछ दूर आगे चलकर २५ हाथ रह जाता है। अब वहाँ की औसत गहराई कितनी होगी? बहाव की गति में क्या परिवर्तन होगा? इसी प्रकार किसी मनोवृत्ति का फैलाव जितना अधिक होगा, उसकी गंभीरता उतनी ही कम होगी। मन की धारा को समेट कर थोड़ी ही चौड़ाई में बहाइए, तो उसकी गहराई अगाध हो जायगी। सरल शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अन्य विषयों से रोक कर केवल एक ही विषय पर चित्त जमाया जाय, तो वह विषय बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाता है। चित्त 'एकाग्र' करने का यही अर्थ है; इसी 'चित्त-वृत्ति-निरोध' का नाम योग है, इसी का नाम 'संकेन्द्रण' है, और इसी को ध्यान कहते हैं। इसी के साधनेवाले सच्चे योगी हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं; इसी से मनुष्य पूरा मनुष्यत्व पाता है।

मनोवृत्तियों में तीन प्रकार की बातें रहा करती हैं—क्षोभ, ज्ञान और इच्छा। सुख, दुःख, संतोष, क्रोध, प्रेम, भय, त्रास आदि

क्षोभ के विषय हैं, अर्थात् इनसे मन की ऐसी दशा हो जाती है, मानो वह काँपने लगा हो। चीज़ों के देखने, सुनने, छूने, चखने और सूँघने से उनका जो हाल मालूम होता है, वह ज्ञान है। स्मरण, तर्क, भावना आदि भी ज्ञान ही के कारण हैं। इच्छा का अर्थ स्पष्ट है। इसमें कुछ-न-कुछ करने की प्रवृत्ति होती है। ध्यान, इरादा आदि इसके विषय हैं।

यद्यपि क्षोभ, ज्ञान और इच्छा के अंश हर मनोवृत्ति में मिले रहते हैं, तथापि उनमें से किसी-न-किसी की प्रधानता रहती है; और उसी प्रधानता के अनुसार उस मनोवृत्ति को क्षोभ-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति या इच्छा-वृत्ति कहते हैं। क्षोभ, ज्ञान और इच्छा में परस्पर विरोध होता है, अर्थात् हर एक चाहता है कि मैं ही प्रधानता पाऊँ। कल्पना कीजिए कोई लड़का खेलते समय गिर पड़ता है और उसके पैर में मोच आजाती है। मोच के कारण उसे पीड़ा होती है (क्षोभ); वह उठकर देखता है तो उसे मालूम होता है कि पैर में चोट आगई है (ज्ञान); वह इच्छा करता है कि पीड़ा बन्द करने के लिए पैर में दवा लगा दी जाय (इच्छा)। अध्यापक भी वहाँ खड़ा है। उसके मन में भी तीनों तरह की वृत्तियाँ आती हैं—मोच खाया हुआ पैर देखकर (ज्ञान), उसे दया आती है और दुःख होता है (क्षोभ) और वह तत्क्षण ही पैर को रूमाल से कस कर बाँध देता है (इच्छा)। अन्य लोगों को भी पैर देखने से ज्ञान, सहानुभूति के कारण क्षोभ और पैर के शीघ्र अच्छे होजाने की आकांक्षा से इच्छा होती है। अब देखना चाहिए कि किसके मन में कौन-सी वृत्ति प्रधान है। गिरनेवाले लड़के के पैर में पीड़ा है, इसलिए उसके मन में अन्य वृत्तियों के होते हुए भी क्षोभ की प्रधानता है। अध्यापक के मन में तीनों वृत्तियाँ हैं; परन्तु प्रधानता इच्छा की है, क्योंकि वह चाहता है कि पैर शीघ्र ही अच्छा होजाय और रूमाल से पैर बाँधता है। अन्य लोगों के मन में

यद्यपि क्षोभ और इच्छा के अंश हैं, तथापि ज्ञान की प्रधानता है, अर्थात् उनके लिए इतना जानना बड़े महत्व का है कि कौन गिरा, कैसे गिरा और कहाँ चोट लगी।

इससे स्पष्ट है कि स्मरण, भावना, अवधान, ध्यान, स्वभाव आदि जिन विषयों का वर्णन पुस्तकों में अलग-अलग अध्यायों में बाँट दिया जाता है, वे विषय यथार्थ में इतने अलग-अलग नहीं हैं। वे ऐसे नहीं हैं, जैसे मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, सिर और धड़ अलग-अलग होते हैं; किन्तु ऐसे हैं, जैसे फूल में रंग, गन्ध, आकार आदि। यदि फूल का रंग अलग करके देखना चाहें, तो असम्भव है; यदि उसकी गंध को उससे पृथक् करके सूँघना चाहें, तो असम्भव है; यदि उसके आकार को अलग करके जानना चाहें, तो असम्भव है। इसी प्रकार ज्ञान, क्षोभ और इच्छा के समूह ही का नाम मन है। मन से पृथक् करके कोई भी वृत्ति देखी नहीं जा सकती।

तो, वैज्ञानिक लोग इन वृत्तियों का किस तरह पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते हैं? अवधान के द्वारा। यदि हम फूल के अन्य गुणों से हटाकर केवल उसके रंग पर मन जमावें, तो रंग का ज्ञान हमको होता है; यदि केवल उसकी गन्ध पर मन एकाग्र करें, तो गंध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन की वृत्तियों पर भी अलग-अलग ध्यान जमाया जा सकता है और उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है, मानो उनसे और अन्य वृत्तियों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। यथार्थ में तो मन की वृत्तियों में बड़ा सम्बन्ध है।

परमाणु-बम

(श्री ए० सी० बैनर्जी)

जापानी महायुद्ध को शीघ्र समाप्त कर देनेवाले परमाणु-बम (एटम-बम) का प्रारम्भ आज से सात वर्ष पहले ही हो गया था। सन् १६३६ की जनवरी में वैज्ञानिकों की जो कान्फ्रैंस अमेरिका में हुई थी, उसकी पहली ही बैठक में प्रोफ़ैसर बोक और फर्मी ने एक आश्चर्यजनक नये प्रयोग का परिचय दिया था। इस प्रयोग की खोज का श्रेय डाक्टर ओटोहान और डाक्टर स्ट्रासमैन को था। इन्होंने यूरेनियम धातु पर अतिसूक्ष्म कण न्यूट्रनों से गोलाबारी की और ध्वंसावशेष के निरीक्षण से इन्हें पता चला कि यूरेनियम के स्थान पर दो अन्य पदार्थ—बोरियम धातु और क्रिप्टन गैस— रह गये हैं।

प्रथम दृष्टि में इस खोज का महत्व हम नहीं पाते। पर ध्यान दीजिए, इस प्रयोग द्वारा एक धातु को दूसरी धातु में बदला जा सकता है। वह दिन दूर नहीं जब हम लोहे का सोना बना सकेंगे। इससे बढ़कर बात यह है कि अभी तक जो बृहत् शक्ति परमाणु के भीतर बन्द थी, उसको मुक्त करने का उपाय हमें ज्ञात हो गया। इस प्रयोग में जितनी अधिक शक्ति उत्पन्न होती है, उतनी किसी अन्य प्रकार से नहीं हो सकती। केवल एक सेर यूरेनियम के विस्फोट से पूरा कलकत्ता नगर विध्वंस हो जायगा। यदि इस शक्ति का सदुपयोग किया जा सके तो संसार के मरुस्थल भी हरे-भरे हो जायँ। इस प्रयोग के महत्व को भली भान्ति समझने के लिए परमाणु की बनावट का ज्ञान आवश्यक है। इसे हम संक्षेप से नीचे देते हैं।

इस बात का ज्ञान वैज्ञानिकों को बहुत पहले से था कि सभी पदार्थ अतिसूक्ष्म कणों द्वारा बने हैं। इन कणों को हम परमाणु

कहते हैं। यदि कोई पदार्थ लेकर हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें, फिर एक टुकड़ा लेकर उसे कई भागों में बाँटें, फिर एक भाग को असंख्य कणों में विभाजित करें, तो इसी प्रकार टुकड़े करते-करते हमें अन्त में एक परमाणु मिल जायगा। परन्तु वास्तव में यह प्रयोग किया नहीं जा सकता। किसी पदार्थ को हम परमाणुओं में विभाजित नहीं कर सकते, क्योंकि परमाणु अतिसूक्ष्म होते हैं। हम उन्हें सूक्ष्मदर्शक माइक्रोस्कोप से भी नहीं देख सकते। उनकी सूक्ष्मता का अनुमान इसी से लग सकता है कि एक तोले सोने के खरबवें भाग में साढ़े तीन खरब परमाणु होते हैं। पहले वैज्ञानिक समझते थे कि परमाणु पदार्थों के सबसे छोटे कण हैं, इन्हें विभाजित नहीं किया जा सकता तथा एक पदार्थ के परमाणु दूसरे पदार्थ के परमाणुओं से सर्वथा विभिन्न हैं, इन्हें एक-दूसरे में परिणत नहीं किया जा सकता। पर इस शताब्दी के आरम्भ से मत बदल गया है। अब हम जानते हैं कि प्रत्येक परमाणु हमारे सौर जगत् का एक छोटा-सा नमूना है। परमाणु के केन्द्र में एक बीज (न्यूक्लियस) होता है और बीज के चारों ओर एक या अधिक विद्युत्कण (एलेक्ट्रन) चक्कर लगाते रहते हैं। जैसे पृथ्वी सूर्य के आकर्षण द्वारा उसके चारों ओर परिक्रमा करती है, उसी प्रकार एलेक्ट्रन भी विद्युत्-आकर्षण के द्वारा बीज से बँधे रहते हैं और उसकी परिक्रमा करते हैं।

परमाणु के केन्द्रीय बीज में दो प्रकार के कण रहते हैं—एक तो प्रोटन और दूसरे न्यूट्रन। दोनों का वज़न बराबर होता है, किन्तु प्रोटन में विद्युत् शक्ति रहती है और न्यूट्रन में उसका अभाव होता है। पदार्थों के गुण उनके प्रोटनों की संख्या द्वारा निर्धारित हो जाते हैं। सबसे पहली गैस हाइड्रोजन के परमाणु में केवल एक प्रोटन रहता है। लोहे के परमाणु में २६ प्रोटन

और सोने के परमाणु में ७६ प्रोटन होते हैं। यदि किसी प्रयोग द्वारा लोहे के परमाणु में प्रोटनों की संख्या २६ से बढ़ा कर ७६ की जा सके तो हम लोहे को सोने में बदल सकेंगे। इस प्रकार का प्रथम प्रयोग प्रसिद्ध वैज्ञानिक रदरफ़ोर्ड ने किया था। उन्होंने नाइट्रोजन गैस को आक्सीजन गैस में परिणत कर दिया। इस प्रयोग के लिए विशेष यंत्र की आवश्यकता होती है। इस यंत्र में रेडियम धातु से निकलते हुए 'व' कणों से नाइट्रोजन पर गोलाबारी की जाती है। 'व' कण हीलियम गैस का परमाणु-बीज है। इसमें दो प्रोटन और दो न्यूट्रन होते हैं। जब ये नाइट्रोजन के परमाणु से टकराता है, तब इसमें से एक प्रोटन निकल कर नाइट्रोजन में घुस जाता है और तब नाइट्रोजन आक्सीजन बन जाता है।

रदरफ़ोर्ड के प्रयोग के अनन्तर अन्य कई वज्ञानिकों ने भी इसी प्रकार के अन्य प्रयोग किये। किन्तु इन सब प्रयोगों में परमाणु-बीज के प्रोटनों की संख्या में एक या दो से अधिक अन्तर नहीं पड़ता। इसका कारण है। बीज में प्रोटन और न्यूट्रन एक प्रबल आकर्षण द्वारा एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। इसलिए 'व' कण इन्हें अधिक तोड़-फोड़ नहीं सकते। पर ज्यों-ज्यों परमाणु का आकार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह बन्धन क्षीण पड़ता जाता है। रेडियम धातु में यह बन्धन इतना क्षीण होता है कि उसमें से प्रोटन और न्यूट्रन अपने-आप निकला करते हैं। यूरेनियम के परमाणु सबसे बड़े होते हैं। उनके न्यूट्रनों और प्रोटनों के बीच का बन्धन अधिक प्रबल नहीं होता। इसीलिए जब उन पर न्यूट्रन कणों से गोलाबारी की जाती है, तब वे टूट कर दो टुकड़े हो जाते हैं। ये दो टुकड़े बोरियम और क्रिप्टन के परमाणु के होते हैं। इन परमाणुओं का वज़न क्रमशः यूरेनियम $\frac{3}{5}$ और $\frac{2}{5}$ भाग होता है। यूरेनियम पर न्यूट्रनों से गोलाबारी करने पर बोरियम और

क्रिप्टन के अतिरिक्त और भी वस्तुएँ मिलती हैं। होता यह है कि बोरियम और क्रिप्टन के परमाणु भी थोड़ा-बहुत टूटते और बदलते रहते हैं। इस प्रकार अन्य वस्तुएँ भी बन जाती हैं। यूरेनियम परमाणु के टूटने पर बहुत-से न्यूट्रन भी निकलते हैं। ये न्यूट्रन यूरेनियम के अन्य परमाणुओं पर आक्रमण करके उन्हें भी तोड़ सकते हैं। परमाणु के टूटने से बहुत-सी शक्ति निकलती है। इसी शक्ति के उपयोग से परमाणु-बम इतना विध्वंसकारी बन सका है।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी शक्ति आती कहाँ से है ? इसका उत्तर हमें प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के अन्वेषणों से मिलता है। पहले, वैज्ञानिक यही समझते थे कि पदार्थ और शक्ति भिन्न वस्तुएँ हैं। पर आइन्स्टाइन ने यह दिखला दिया है कि यह मत ग़लत है। पदार्थ को शक्ति के रूप में बदला जा सकता है। विशेषता यह है कि थोड़े ही पदार्थ से अत्यधिक शक्ति निकाली जा सकती है। एक सेर काग़ज़ को यदि शक्ति में बदला जा सके तो उतनी ही शक्ति पैदा होगी जितनी पच्चीस करोड़ सेर कोयला जलाने से मिलती है। अभी तक हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं था जिससे पदार्थ से यह शक्ति निकाली जा सके। यूरेनियम-विस्फोट प्रथम प्रयोग है जिसमें वैज्ञानिक इस परमाणु-शक्ति का प्रयोग कर सके हैं। यूरेनियम टूटने पर जो पदार्थ बनते हैं उनका वज़न यूरेनियम से कम होता है। यही कमी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में जब यूरेनियम टूटता है, तब उसका अधिकतर भाग तो बोरियम, क्रिप्टन आदि के रूप में मिलता है और एक छोटा अंश शक्ति में बदल जाता है। एक सेर यूरेनियम पाँच लाख मन बारूद के बराबर शक्ति देता है। यही कारण है कि परमाणु-बम साधारण बमों से कहीं अधिक विनाशकारी है।

ऊपर की बातों से यह समझा जा सकता है कि परमाणु-बम

के भीतर दो चीजें रहती हैं—यूरेनियम और गोलाबारी आरम्भ करने के लिए न्यूट्रन-उत्पादक वस्तु। न्यूट्रन-उत्पादन के लिए रेडियम धातु रहती है, जिसमें से बराबर 'व' कण निकला करते हैं। बम समय से पहले न फूट जाय, इसलिए रेडियम को सिलिकन के पर्दे से ढक देते हैं। जब बम गिरता है तब पर्दा फट जाता है और 'व' कण निकल कर बेरिलियम धातु के ढोंके से टकराते हैं। इस टक्कर से बेरिलियम-परमाणु टूट कर न्यूट्रन छोड़ते हैं जो जाकर यूरेनियम-परमाणुओं से भिड़ते हैं। ये परमाणु टूट कर स्वयं न्यूट्रन छोड़ते हैं, जो अन्य यूरेनियम-परमाणुओं को तोड़ते हैं। यह देखा गया है कि दो-चार परमाणु टूटने के उपरान्त यह क्रिया रुक जाती है। कारण यह है कि न्यूट्रनों का वेग बहुत बढ़ जाता है और जब तक इनकी गति मन्द नहीं की जाती, तब तक यह यूरेनियम-परमाणु नहीं तोड़ सकते। गति मन्द करने के लिए बम के भीतर यूरेनियम को पैराफिन-मोम में मिलाकर रखते हैं। जब न्यूट्रन मोम में होकर जाते हैं, उनकी गति मन्द हो जाती है और तब वे परमाणुओं को तोड़ सकते हैं। इस प्रकार मोम मिला देने से टूटने की क्रिया रुकती नहीं है, बल्कि अतिशीघ्रता से बढ़ती है, और कुछ ही क्षणों में सब यूरेनियम टूट कर समाप्त हो जाता है।

एक बात और है। ऊपर बताया जा चुका है कि भिन्न पदार्थों के परमाणु-बीज में प्रोटनों की संख्या भिन्न होती है। इसके विपरीत कुछ परमाणु ऐसे होते हैं जिनके बीज में प्रोटनों की संख्या तो वही होती है, किन्तु न्यूट्रनों की संख्या भिन्न होती है। ऐसे परमाणुओं के रासायनिक गुण एक ही समान होते हैं, पर बोझ में अन्तर होता है। ये एक ही पदार्थ के विभिन्न रूप हैं। यूरेनियम के इस प्रकार के तीन रूप मिलते हैं। केवल एक ही रूप, यू-२३५ (प्रोटन संख्या ९२, न्यूट्रन संख्या १४३, योग

२३५) न्यूट्रनों को गोलाबारी से तोड़ा जा सकता है; अन्य रूप नहीं टूटते। साधारण यूरेनियम धातु में यू-२३५ की मात्रा बहुत ही थोड़ी होती है—यह केवल १४०वाँ भाग होता है। बहुत दिनों तक कोई ऐसी क्रिया ही ज्ञात नहीं थी जिससे यू-२३५ अलग किया जा सके। अवश्य ही अब वैज्ञानिकों ने कोई उपाय निकाल लिया है जिससे पर्याप्त मात्रा में यू-२३५ अलग किया जा सकता है। इसके बिना परमाणु-बम बनाना असम्भव था।

१६ जुलाई १९४५ को परमाणु-बम की पहली परीक्षा अलमोगोर्डो (अमेरिका) में हुई। एक लोहे की मीनार के ऊपर बम रक्खा गया और पाँच मील दूर से बिजली के तार द्वारा घोड़ा दबाया गया। सूर्य के प्रकाश से भी तीव्र प्रकाश हुआ; फिर घोर गर्जन। २५० मील दूर तक की खिड़कियाँ झनझना उठीं। लोहे की मीनार भाप बन कर उड़ गई। वहाँ पर भारी गड्ढा हो गया। इतना बड़ा विस्फोट पहले कभी नहीं देखा गया था। उसके बाद के प्रयोग तो जापानी नगरों पर हुए, जहाँ एक-एक बम से पूरे शहर साफ़ हो गये।*

भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान

(श्री प्रो० जगद् विहारी सेठ)

भारतवर्ष के प्राचीन महर्षियों ने छः दर्शनों की रचना की थी। इनमें से एक है कणादकृत वैशेषिक दर्शन जो पदार्थविद्या के ऊपर है। इसमें पदार्थों का विचार तथा द्रव्यों का निरूपण किया गया है। वैशेषिक में द्रव्य नौ कहे गये हैं। वे हैं—पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, काल, दिक्, मन और

* 'प्रोग्रेसिव क्लब' में दिये गये भाषण का भावानुवाद; अनुवादक—श्री चन्द्रिकाप्रसाद

आत्मा । (पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि) । इन नव द्रव्यों की विशेषता बताने के कारण ही इस दर्शनांग का नाम वैशेषिक पड़ा था । इन नव द्रव्यों में से केवल चार ही 'सावयव' यानी जिस्मवाले माने गये थे। वे हैं—पृथिवी, जल, वायु और तेज । ये चार द्रव्य उत्पत्ति वाले माने गये थे और इन्हीं चार द्रव्यों –चतुस्तत्त्वों– के योग से सारी सृष्टि की रचना हुई समझी जाती थी ।

उपर्युक्त सन्दर्भ 'हिन्दी शब्दसागर', तथा आपटे के और मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोषों के कुछ शब्दों की व्याख्याओं के आधार पर अवलम्बित है । स्वयं वैशेषिक में इस बारे में क्या लिखा है और इन शब्दों के असली अर्थ क्या हैं, इसका ज्ञान प्रस्तुत लेखक को नहीं है; परन्तु उसकी समझ में यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि इन नव द्रव्य-सूचक शब्दों के लोकप्रचलित अर्थों के स्थान पर भावसूचक अर्थ लिये जायँ, तो इन्हीं नव द्रव्यों की पूरी-पूरी व्याख्या और सम्यक् अनुसन्धान में सारे-का-सारा आधुनिक विज्ञान अन्तर्गत हो जाता है। इन नव द्रव्यों को, अतएव, यदि 'विज्ञानसार' कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

आधुनिक पश्चिमी विज्ञान की नींव पड़ी थी योरुप में पन्द्रहवीं शताब्दी के कोई बीचों-बीच । इससे भी लगभग १८०० वर्ष पूर्व अर्थात् खीष्टाब्द-प्रारम्भ से कोई दो-तीन सौ वर्ष पहले, यूनानी सभ्यता का उत्कृष्ट काल समझा जाता है जबकि वह अपनी पराकाष्ठा पर थी और जबकि यूनान में बड़े-बड़े विद्वान् , विचारक तथा दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता हुए। यूनानी सभ्यता की अवनति के बाद, योरुप में रोमन सभ्यता का उत्थान हुआ। रूमी, यद्यपि थे तो बड़े ही योद्धा और नीतिनिपुण, तथापि 'वैचारिक विज्ञान' में उनकी कोई विशेष रुचि न थी । हाँ, इस

में सन्देह नहीं कि व्यवहारिक विज्ञान का उन्हें अवश्य खासा ज्ञान था, कारण कि उसके बिना कोई भी साम्राज्य या सभ्यता पराकाष्ठा पर नहीं पहुँच सकती।

इस प्रकार, यूनानी पराकाष्ठा के ह्रास के बाद योरुप में विज्ञान के लिहाज़ से एक अंधकार-सा छा गया जिसे 'अंधकाल' या 'अंधयुग' कह सकते हैं। परन्तु अनेक कारणों के फलस्वरूप योरुप में पन्द्रहवीं शताब्दी में एक बार फिर विविध कलाओं और उद्योगों का ज़ोर हो उठा और, कह सकते हैं, कि आजकल के ज्ञान-विज्ञान का उद्गम या जन्म भी इसी समय हुआ। इस समय को अंग्रेजी में कहते हैं 'दि रिनायसेंस' अर्थात् नई जागृति, या नवजीवनकाल। इस समय में पुराने यूनानी ग्रन्थों की खोज की जाने लगी, उनका पुनरध्ययन और उनके अनुवाद आदि भी होने लगे। इसलिए यह भी कह सकते हैं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की असली नींव है यूनान की प्राचीन विद्वत्ता और प्रतिभा।

जान पड़ता है कि प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ में दिये गये प्राचीन भारतीय आर्यों के वे विचार, कोई दो-ढाई हजार वर्ष हुए, यूनानी विद्वानों ने अपना लिये थे। यूनान के सुप्रसिद्ध ज्ञान-विज्ञानवेत्ता अरस्तू (अरिस्टाटल Aristotle; खीष्टाब्द-पूर्व ३८४-३२२) ने भी वही चतुस्तत्त्वों वाला सिद्धान्त स्वीकार कर उसी की प्रसिद्धि की कि पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, ये ही चार मूल-तत्त्व हैं और इन्हीं चारों से संसार के सारे-के-सारे पदार्थ बने हैं। अरस्तू की 'अग्नि' और वैशेषिक का 'तेज', इन दोनों को एक ही समझना चाहिए। [अरस्तू अलक्षेन्द्र महान् (अलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट) के गुरु थे—वही अलक्षेन्द्र जिसने ३२६ खी० पू० में भारतीय नरेश पोरस (राजा पुरु) पर विजय प्राप्त की थी।]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरस्तू और आर्यर्षियों का चतुस्तत्त्व-सिद्धान्त यथाशब्द यानी अक्षरशः तो ठीक नहीं; क्योंकि आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि कुल जमा, केवल चार ही नहीं, लगभग नब्बे ऐसे पदार्थ हैं जो नितान्त 'विशुद्ध' हैं, जिनमें कोई भी अन्य प्रकार के पदार्थ नहीं मिले हुए हैं और जिनको कि मूलतत्त्व की पदवी दी गई है। इन्हीं ९० मूलतत्त्वों के एक, दो या अधिकों के योग से अन्य सारे पदार्थ बने हुए हैं। 'मूलतत्त्व' की इस यथार्थ परिभाषा के अनुसार पृथ्वी, जल और वायु 'तत्त्व' नहीं हैं। ये स्वयं उपर्युक्त ९० तत्वों के दो या इससे अधिक के योग हैं—संयोग अथवा संमिश्रण।*

इसके अतिरिक्त आर्यर्षियों और अरस्तू के चतुस्तत्त्वों का चौथा द्रव्य—तेज या अग्नि—तत्त्वों में गिना ही नहीं जा सकता। वह पदार्थ नहीं, किन्तु ऐसी वस्तु है जिसे न तो देख सकते हैं, न छू सकते हैं, न उसका कुछ बोझ होता है और न ही कोई रंग-रूप। यह सब होते हुए भी उसके अस्तित्व में कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। सदैव परोक्ष होते हुए भी, वह अपने कार्यों या फलों से अपने अस्तित्व को विविध रूपों में, नाना प्रकार से

---

* संयोग (कम्पौंड) और संमिश्रण (मिक्सचर) में भेद यह है कि 'संयोग' में दो अथवा अधिक तत्व मिल कर एक 'अन्य पदार्थ' की सृष्टि कर डालते हैं; जैसे हाइड्रोजन और आक्सीजन के संयोग से 'जल' की उत्पत्ति। जल में इन दोनों का 'संयोग' कहा जाता है। संमिश्रण में दो या अधिक तत्त्वों का तिल-तण्डुलवत् मेल रहता है। यदि गन्धक और लोहे का चूर्ण मिला दें तो यह उनका संमिश्रण हुआ। यदि वही मिश्रण आग आदि के द्वारा रूपान्तर में परिणत हो जाय तो वह 'संयोग' कहा जाता है।

प्रयत्न करता है।

पदार्थ भी अगोचर हो सकता है, जैसे वायु या कोई अन्य बिना रंग या गंध की गैस; परन्तु पदार्थ बोझ-हीन कदापि नहीं हो सकता। कितना ही हलका पदार्थ क्यों न हो, उपयुक्त प्रयोगों द्वारा उसका बोझीलापन सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ कितना ही अगोचर क्यों न हो, वह ऐसी दशा में लाया जा सकता है कि उसे हम देख सकते हैं और छू भी सकते हैं। इन चतुस्तत्त्वों में केवल तेज ही एक ऐसा द्रव्य है जो सदैव, हर हालत में, अगोचर रहता है; केवल मात्र वह अपनी 'करतूतों' से ही अपने को प्रकट करता है। परन्तु अस्तित्व होते हुए भी उसका कोई बोझ नहीं।

इस चौथे तत्त्व, तेज, से वास्तव में तो मतलब रहा होगा 'अग्नि' ही का, जैसा कि अरस्तू ने साफ़-साफ़ कह दिया था। आग या जलना नित्य की बरतनेवाली चीज़ों में सबसे अनोखी चीज़ समझी जा सकती है। अग्नि में ताप अर्थात् गरमाहट और प्रकाश यानी रोशनी दोनों ही शामिल है। परन्तु ताप और प्रकाश का ज्ञान दो भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा होता है, इसलिए उनको दो अलग-अलग चीज़ें कहने में किसी को कुछ एतराज़ नहीं होता। कह सकते हैं कि ताप और प्रकाश दो तरह के तेज हैं। किन्तु हमारे अनुभव में ताप और प्रकाश की तरह की और-और चीज़ें भी आती हैं, जैसे कि विद्युत्। विद्युत् से भी ताप निकलता है, प्रकाश भी, और आवाज़ भी निकल सकती है, एवं अन्य प्रकार के असर भी हो सकते हैं। अतएव जैसे ताप और प्रकाश तेज के दो स्वरूप निकले थे, वैसे ही विद्युत् भी उसका एक तीसरा स्वरूप है। इसी प्रकार तेज के और भी रूप हो सकते हैं जिनमें मुख्य हैं चुम्बक, गतिज अर्थात् गतिजनित तेज, स्थितिज या संभवनीय और रासायनिक। ध्वनि भी तेज का ही एक भेद या

रूप माना जाता है; परन्तु ध्वनि गतिज और स्थितिज तेजों के योग का फल है।

ऐसी चीज़ों को अंग्रेज़ी में 'एनर्जी (Energy) के रूप' कहते हैं। एनर्जी का पर्यायवाचक, कोई कहता है, 'ऊर्ज', कोई 'ओज' और कोई 'शक्ति'। परन्तु उपर्युक्त बातों के कारण और साथ ही वैशेषिक के नवद्रव्यों में से एक होने के कारण 'तेज' ही यहाँ एनर्जी का उचित पर्यायवाचक समझा गया है।

'तेज' वह चीज़ है जिसमें काम करने की शक्ति या सामर्थ्य हो। विज्ञान में काम तभी हुआ माना जाता है, जब थोड़ी-बहुत गति व्यक्त होवे अर्थात् थोड़ा-बहुत 'संचलन' होवे। इसलिए तेज की परिभाषा की जा सकती है—ऐसी चीज़, जो किसी-न-किसी प्रकार से, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, प्रकट या गुप्त भाव से, गतिशीलता अर्थात् 'संचलन' का प्रादुर्भाव करे। तेज की और अधिक पूरी एवं सम्यक् व्याख्या करने का यह अवसर नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि तेज के जितने स्वरूप या भेद ऊपर बतलाये हैं, और अन्य सब भेद भी, किसी-न-किसी तरह से, अन्त में, गति अवश्य पैदा करते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि पहले तो तेज का यह गुण या लक्षण बतलाया था कि वह अगोचर है, न उसको देख सकते हैं, न छू सकते हैं, परन्तु जितने भेद या रूप या उदाहरण दिये गये हैं, उन सबमें अगोचरपन नहीं है; ताप छूने से प्रतीत होता है, प्रकाश देखने से, ऐसे ही विद्युत्, गतिज, स्थितिज एवं रासायनिक तेज सभी देखे, छुए या सुने जा सकते हैं; फिर कहाँ रहा अगोचरत्व? उत्तर यह है कि ये सब हैं तेज के असर या फल; असर और फल तेज नहीं, अपितु केवलमात्र तेज के अस्तित्व के सूचक हैं—उसकी करामातें हैं। कठपुतलियाँ जब नाच-तमाशा करती हैं, तब मालूम तो ऐसा होता है कि वे स्वयं ही नाच रही

हैं। पर उनको नचानेवाला कहीं अलग भीतर ही छिपा रहता है। कहीं वह दृष्टि या कर्णगोचर हो जाय, तो सारा खेल ही बिगड़ जाय। तेज और तेज के विविध रूपों में भी, ठीक ऐसा तो नहीं, पर कुछ-कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध समझना चाहिए।

वैशेषिक में चतुस्तत्त्वों को 'सावयव' कहा है। यदि सावयव से समझी जाय ऐसी चीज़ जिसका शरीर हो, तो उसका बोझ होना चाहिए, और उसको कुछ जगह भी रोकनी चाहिए। तो इस आधार पर तेज को 'सावयव' नहीं कह सकते। परन्तु यदि सावयव से समझा जाय ऐसा द्रव्य जिसका परिमाण हो सके, जिसकी मात्रा हो, जिसकी माप की जा सके, तो तेज भी 'सावयव' अवश्य है; क्योंकि प्रत्येक प्रकार के तेज की नाप की जा सकती है, चाहे वह व्यक्त हो या अव्यक्त। हाँ, 'पदार्थ' ऐसा द्रव्य है कि जो 'सावयव' के प्रचलित अर्थ के अनुसार भी 'सावयव' है। 'हिन्दी शब्द-सागर' में 'सावयव' को 'जिस्मवाला' कहा है और किसी भी पदार्थ की 'जिस्मता' में किसी को शक नहीं हो सकता। जब जिस्म है तब उसका बोझ भी है, वह जगह भी रोकता है और उसका परिमाण यानी मापन भी किया जा सकता है। इस आधार पर चतुस्तत्त्वों के प्रथम तीन द्रव्य—पृथ्वी, जल और वायु—निःसन्देह 'सावयव' हैं; केवल वे तत्त्व मूलतत्त्व नहीं।

यद्यपि वे मूलतत्त्व तो नहीं, तथापि पदार्थ के, और इसलिए मूलतत्त्व के, सूचक अवश्य हैं; क्योंकि पदार्थ तीन और केवल तीन अवस्थाओं में ही हो सकता है—स्थूल, द्रव और गैसीय अर्थात वायव; या यों कहिए कि ठोस, पनीला और हवा के मानिन्द। वायु या हवा इस तीसरी दशा का नमूना है; जल या पानी है दूसरी—द्रव-अवस्था—का, और पृथ्वी अर्थात् मिट्टी है पहली—स्थूल या ठोस—हालत का। पृथ्वी, जल, वायु मूलतत्त्व तो बेशक नहीं, परन्तु तत्वों की तीनों भौतिक दशाओं के सूचक अवश्य हैं।

इसलिए इन तीन द्रव्यों से समझना चाहिए 'पदार्थ'—माद्दा या भूतद्रव्य—अंग्रेजी का मैटर (Matter)।

आधुनिक विज्ञान का एक गूढ़ परन्तु सार्वजनिक सिद्धान्त है कि जो कुछ भी नापा जा सकता है, वह अनादि और अनन्त है, अज और अमर है; न तो हम उसकी सृष्टि ही कर सकते हैं, न ही उसका विनाश; केवल उसका रूपान्तर मात्र कर सकते हैं। पदार्थ और तेज दोनों ही की नाप की जा सकती है। इसलिए उक्त कसौटी की परख से ये दोनों ही अज और अमर अर्थात् अनादि और अनन्त हैं। इस सिद्धान्त को कहते हैं—'तेज का तथा पदार्थ का सनातनत्व (कंज़र्वेशन ऑफ़ एनर्जी एण्ड मैटर)।

तेज के विविध रूपों में से कई एक के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। पदार्थ के रूपों के बारे में कुछ बहुत कहने की आवश्यकता नहीं, कारण कि वे सर्वविदित ही हैं। न केवल पदार्थ की तीन भौतिक अवस्थाएँ ही हैं, अपितु दो या अधिक तत्वों के योग से बने हुए नाना प्रकार के संयोग (यथा जल) और संमिश्रण (यथा वायु) आदि अनेक योगजन्य रूप भी हैं। (पृथ्वी में संयोग भी है और संमिश्रण भी।)

उन्नीसवीं शताब्दी में सनातनत्व के ये दोनों सिद्धान्त, अलग-अलग, बिना एक-दूसरे से किसी सम्बन्ध के, माने जाते थे। वर्तमान शताब्दी के विज्ञान में जो कदाचित सबसे महत्त्वशाली और अनेक परिणाम-परिपूर्ण घटना हुई है—जिसके बड़े-बड़े नतीजे निकल चुके हैं और निःसन्देह अभी और भी निकलेंगे—वह है इन दोनों 'सनातनत्वों' का एकीकरण। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ और तेज एक ही प्रकार के द्रव्य हैं। पदार्थ तेज में और तेज पदार्थ में परिणीय हैं और दोनों को परस्पर परिणत कर भी सकते हैं। सूर्य, नक्षत्र,

तारागण, जो चिर काल से सतत, निरन्तर तेज का निःसरण कर रहे हैं, वह उनके पदार्थत्व ही की बदौलत है—उनका पदार्थ ही तेज में परिणत होता रहता है। ऐटम-बाम्ब भी ऐसे ही परिणमन का फल है। जैसे तेज के विविध रूप हैं और पदार्थ के भी, वैसे ही तेज और पदार्थ, ये दोनों भी किसी एक ही 'द्रव्योत्तम' के रूपान्तर मात्र हैं।

कोई भी चीज़ क्यों न हो—पदार्थ या तेज, किसी भी प्रकार का बल या शक्ति, अथवा कोई अन्य भौतिक अस्तित्व—उसको नापने के लिए तीन चीज़ों की आवश्यकता होती है—कहीं तीनों में से एक, कहीं दो या कहीं तीनों। ये तीन चीज़ें हैं—पुञ्ज (पदार्थमात्रा), आयाम (लम्बाई), और समय (काल)। कोई भी चीज़ क्यों न हो, यदि उसका मापन किया जा सकता है, तो इन्हीं तीन मौलिक मात्राओं के द्वारा; और केवल ये ही तीन ऐसी हैं कि जिनमें की प्रत्येक, निरपेक्ष रूप से— बिना एक-दूसरी की सहायता के—नापी जा सकती है।

वैशेषिक के प्रथम तीन द्रव्य—पृथ्वी, जल और वायु—हम कह सकते हैं कि पदार्थ और अतएव तीनों मौलिक मात्राओं में से एक अर्थात् पुञ्ज या पदार्थमात्रा के सूचक हैं। 'काल' तो है ही समय। रह गयी तीसरी मौलिक मात्रा, आयाम अर्थात् लम्बाई, या आयतन या विस्तार अथवा स्थान (स्पेस)। तो 'दिक्' अर्थात् दिशा से और क्या समझ सकते हैं सिवाय स्थान या आयाम के?

सारा संसार दो प्रकार की वस्तुओं का समुच्चय है—सजीव और निर्जीव। निर्जीव जगत् सम्बन्धी विज्ञान को भौतिक विद्याएं (फ़िज़िकल साइंसेज़) कहते हैं जिनके दो भेद हैं, पदार्थ-विज्ञान तथा रसायन-शास्त्र। वैशेषिक के नव द्रव्यों में से पृथ्वी, जल, वायु, तेज, काल और दिक्, इन छः द्रव्यों का पूर्ण अध्ययन, उनकी सम्यक् व्याख्या ही पदार्थ-विज्ञान, भौतिकी (या फ़िज़िक्स) और

रसायनशास्त्र या (रासायनी या कैमिस्टरी) है। इन छः द्रव्यों के अध्ययन के साथ जब हम एक सातवें द्रव्य-आत्मा-का अध्ययन मिला देते हैं (और यदि आत्मा से समझें 'जीवन') तो बन जाता है सजीव जगत् सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् जीवशास्त्र (बायोलॉजिकल साइंसेज़)। इसकी भी दो शाखाएँ हैं—वनस्पतिविज्ञान (बॉटनी) और प्राणिविज्ञान या पशुविज्ञान (ज़ुऑलोजी)।

आठवें द्रव्य 'मन' का अध्ययन विज्ञान का एक और अंग प्रस्तुत करता है। वह है मनोविज्ञान (साइकॉलोजी)। आत्मा और मन के अध्ययन को अध्यात्मविद्या और दर्शनशास्त्र भी समझना चाहिए।

विज्ञान एक है, उसके अंग अनेक हैं। विज्ञान-वृक्ष के समझिए कि दो तने हैं—एक है निर्जीव जगत् सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् भौतिक विद्याएं, जिसकी दो शाखाएँ ह—भौतिकी और रासायनी। उसका दूसरा तना है—सजीव संसार सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् जीवशास्त्र। इसकी भी दो शाखाएं हैं—वानस्पतिकी और प्राणिकी। ये हैं विज्ञान के चार प्रधान अंग। विज्ञान के अन्यान्य और भी बहुतेरे अंग ह जिनको विज्ञान वृक्ष की उप और अनु शाखाएं समझ सकते हैं; यथा खगोलविद्या-ज्योतिष या एस्ट्रॉनोमी, भूगोलविद्या (जियोग्रॉफ़ी), भूपटलविद्या (जिऑलोजी), ऋतुशास्त्र (मिटिऑरलोजी), यांत्रिकी (एंजिनियरिंग), वैद्यकी (मैडिसन), जर्राही (सरजरी), कीटविद्या (एंटॉमॉलोजी), कृषि विद्या (एग्रीकलचर)। मनोविज्ञान को विज्ञानवृक्ष का पुष्प कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक अंग हैं। उनके केवल नाम-निर्देशमात्र से शायद पाठक को कुछ पता नहीं चलेगा। ये सब-के-सब उपर्युक्त चार प्रधान अंगों और गणितशास्त्र के एक या एकाधिक अंगों पर निर्भर हैं। उदाहरणार्थ खगोलविद्या या ज्योतिष-शास्त्र सबसे पुरातन विज्ञान है। संसार की पुरानी से

पुरानी सभ्यता में भी इसका पर्याप्त ज्ञान था। परन्तु ज्योतिष केवल गणित और भौतिकी पर अवलम्बित है, यद्यपि आधुनिक भौतिकी निःसन्देह स्वयं अभी कुछ ही सौ वर्षों की है।

यही नहीं कि विज्ञान के अनेक अंग ह; एक-एक अंग के अनेक उपांग भी हैं। एक-एक उपांग भी अब इतना बड़ा हो गया है कि उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना भी कठिन होता जाता है। पर यह सब होते हुए भी, यह भूलना न चाहिए कि विज्ञान एक है और किसी भी व्यक्ति को तब तक विज्ञानवेत्ता नहीं कह सकते जब तक वह विज्ञान के कम-से-कम मुख्य-मुख्य अंगों का कुछ-न-कुछ, थोड़ा-बहुत, ज्ञान न रखता हो, यद्यपि कोई भी व्यक्ति केवल-मात्र एक अंग क्या, एक उपांग से अधिक का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। और पूरा ज्ञान तभी प्राप्त होता या हो सकता है जब वह स्वयं इस उपांग का सेवी हो, स्वयं उसी में मस्त रहे और अनुसन्धान करता रहे। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि 'जैक ऑफ़ ऑल ट्रेड्स, मास्टर ऑफ़ नन' अर्थात् 'जिज्ञासु सबका, पर ज्ञाता किसी का नहीं'। साम्प्रत विज्ञान के लिहाज़ से इस कहावत को यों कहना चाहिए "जैक ऑफ़ ऑल ट्रेड्स, मास्टर ऑफ़ वन' अर्थात् 'जिज्ञासु सबका, पर ज्ञाता एक का'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का सारा-का-सारा विज्ञान भारतीय वैशेषिकदर्शन के नौ में से आठ द्रव्यों के अन्तर्गत है— पृथ्वी, जल, वायु, तेज, दिक्, काल, आत्मा और मन। रह गया नवाँ द्रव्य 'आकाश'। इससे आधुनिक विज्ञान के 'ईथर' के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ सकते। यह ऐसा द्रव्य है जिसका अस्तित्व तो आधुनिक विज्ञान को अवश्य स्वीकृत है और स्वीकार करना भी पड़ता है, परन्तु इसके सम्बन्ध में प्रयोगों के द्वारा कुछ पता नहीं चलता। इसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कितने ही अत्यन्त युक्तिपूर्ण प्रयोग किये जा चके हैं, परन्तु सब-के-सब

निष्फल ही सिद्ध हुए हैं। कहीं यह वह 'द्रव्य-श्रेष्ठ' तो नहीं जो 'पदार्थ' और 'तेज' दोनों का ही 'जनिता' था और जो अति सूक्ष्म है और सारे विश्व में व्याप्त है?

भारत की राष्ट्र-भाषा और लिपि

(महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन)

हमारा देश अब वह नहीं रहा, जो सदियों से चला आ रहा था। जिस वक्त आज का हिन्दी-भाषा-भाषी भारत परतंत्र हुआ, उस वक्त हमारा हिन्दी का वह रूप गुजरात, कन्नौज, पटना में बोला और लिखा जाता था, जो सातवीं सदी में आरम्भ हुआ था और जिसके अमर लेखक सरह, स्वयम्भू, पुष्पदन्त एवं हरिब्रह्म आदि थे। भाषा हमारी ही जैसी थी, किन्तु वह तद्भव का रूप था। उस समय के बाद हमारी भाषा दासों की भाषा समझी गई। फ़ारसी ने दरबारों और कचहरियों में अपना स्थान जमाया। धीरे-धीरे हिन्दी उस दयनीय दशा पर पहुँची, जबकि उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' लिखा। फिर उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु और उनके साथियों ने हिन्दी को अपना स्थान दिलाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। स्वर्गीय गोविन्दनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रामावतार शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक आदि कितने तपस्वी और मुनि जो स्वप्न देखते चले गए, वह आज पूरा हुआ। आज फिर अपने प्राचीनतम रूप अपभ्रंश हिन्दी की भाँति हमारी हिन्दी स्वतंत्र भारत की सम्माननीय भाषा का पद प्राप्त कर रही है। सात सदियों का अन्तर है। इतने दिनों के अन्तर्धान के बाद हिन्दी-सरस्वती पुनः बड़े वेग से अपने स्थान पर प्रकट हुई है और आज उसका दायित्व और कार्य-क्षेत्र बारहवीं सदी से कहीं अधिक है। यद्यपि दरबारों में उस वक्त भी उसका सम्मान था, कितने कागज-

पत्र भी लिखे जाते थे, तो भी अभी सबसे ऊँचा स्थान मातृ-भाषा को नहीं, बल्कि संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत का कवि ही 'ताम्बूल-द्वयमासनञ्च लभते' और ताम्र-शासनों में भी संस्कृत का प्रयोग होता था। आज हमारे हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी के सर्वे-सर्वा होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। उसे हिन्दी-प्रान्तों के न्यायालयों, पार्लमेण्टों और सरकारी शासन-पत्रों की ही भाषा नहीं बनना है, बल्कि आज के विकसित विज्ञान की हर एक शाखा के अध्ययन का माध्यम भी बनना है। यह बहुत भारी काम है; लेकिन मुझे विश्वास है कि हमारी हिन्दी उसे सहर्ष वहन करेगी।

आज फिर भारत एक संघ में बद्ध हुआ है। हमारे भारत-संघ की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ-भाषा के बारे में कुछ थोड़े-से लोग अपने व्यक्तिगत विचार और कठिनाइयों को लेकर बाधा डालना चाहते हैं। हम पूछेंगे कि जब संघ के काम के लिए भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को लेना संभव नहीं, तब किसी एक भाषा को हमें स्वीकार करना ही होगा।

आश्चर्य करने की बात नहीं है, यदि अब भी कुछ दिमाग़ यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते और अब भी अंग्रेज़ी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाये रखने का आग्रह करते हैं। यह भी दासता के अभिशाप का अवशेष है। इन्होंने अंग्रेज़ी छोड़ किसी भारतीय भाषा पर अधिकार नहीं पाया; सदा साहबी ठाठ में रहे और कभी ख़याल भी नहीं किया कि देश की जनता भी किसी भाषा से सम्बन्ध रखती है और उसका साहित्य, जहाँ तक शुद्ध साहित्य का सम्बन्ध है, विश्व की किसी भाषा से पीछे नहीं है।

कोई भी अविकृत मस्तिष्क आदमी आज अंग्रेज़ी को राष्ट्र-भाषा बनाने की कोशिश नहीं करेगा। यहाँ यह भी कह देना

चाहिए कि हमारे रेडियो अब भी अंग्रेज़ी के अधिक प्रचार का साधन बन रहे हैं। उन्हें फ्रेंच और रूसी रेडियो के प्रोग्रामों को देखना चाहिए कि वहाँ कितने प्रतिशत मिनट प्रोग्राम अंग्रेज़ी में चलते हैं।

सवाल है—हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं, और दोनों लिपियों को भी, क्यों न सारे संघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि मान लिया जाय? पूछना है—अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है? संघ की राष्ट्र-भाषा सिर्फ़ एक होनी चाहिए। स्वीज़रलैंड की तीन भाषाओं का दृष्टान्त हमारे यहाँ लागू हो सकता था, यदि हमारा देश एक तहसील या ताल्लुके के बराबर होता। हमारे यहाँ जो उदाहरण लागू हो सकता है, वह है सोवियत-संघ का, जहाँ ६६ भाषाएँ बोली व लिखी जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में तो अब भी ६०—६० प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उत्तरी भाषाओं में हैं, किन्तु सोवियत की मंगोल व तुर्की सम्बन्ध की पचासों भाषाओं का रूसी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। तो भी वहाँ के लोगों ने संघ की एक भाषा मानते वक्त रूसी को वही स्थान दिया, क्योंकि वह दो-तिहाई जनता की अपनी भाषा थी और देश में भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दी का भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिन्दी को ही लेना होगा। हिन्दी-भाषा-भाषी बहुत भारी प्रदेश तक फले हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आसामी, बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी ऐसी भाषाएँ हैं जो हिन्दी जानने वालों के लिए समझने में बहुत आसान हो जाती हैं; उनका एक-दूसरे का बहुत निकट का सम्बन्ध है। मैंने उड़िया नहीं पढ़ी थी और न उसे सुनने का वैसा मौका मिला था। लेकिन गत वर्ष कटक में मैं एक नाटक देखने गया। मैं डरता था

कि शायद समझने में दिक़्क़त होगी; लेकिन पहले दिन के ही संवाद को मैं ८० प्रति सैकड़ा समझ गया, और उड़िया भाषा ने अपने सौन्दर्य से मुझे बहुत आकृष्ट किया। मैंने यात्रा, दर्शन और राजनीति के सम्बन्ध में गुजराती, मराठी, उड़िया, बँगला-भाषा-भाषियों के सामने कितनी ही बार व्याख्यान दिये हैं और भारी संख्या में उनके सावधानतापूर्वक सुनने से सिद्ध था कि वे हिंदी समझ लेते हैं। हाँ, यहाँ इस बात का ज़रूर ध्यान रखना पड़ता था कि हिंदी में जब-तब आने वाले अरबी-फ़ारसी शब्दों की जगह तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाय। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अरबी-फ़ारसी से लदी उर्दू भाषा को भारत के दूसरे प्रान्तों पर लादा नहीं जा सकता।

और लिपि? उर्दू-लिपि, जो कि वस्तुतः अरबी-लिपि है, इतनी अपूर्ण लिपि है कि उसे खुद बहुत-से इस्लामी देशों से देश-निकाला दिया जा चुका है। उसको लादने का ख़याल हमारे दिल में आना नहीं चाहिए।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के लिए जब कहा जाता है, तो कहीं-कहीं से आवाज़ निकलती है—"हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं।" यह उनका झूठा प्रचार है और वे हिन्दी-भिन्न-भाषा-भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ-भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व मिट जायगा। यह विचार सर्वथा निर्मूल है। अपने क्षेत्र में वहाँ की भाषा ही सर्वे-सर्वा होगी। बंगाल में प्रारम्भिक स्कूलों व यूनिवर्सिटी तक, गाँव की पंचायतों से प्रान्त की पार्लमेण्ट और हाईकोर्ट तक सभी जगह बंगला का अक्षुण्ण राज्य रहेगा। इसी तरह उड़ीसा, आंध्र, तामिलनाड, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आसाम में भी वहाँ की भाषाओं का साहित्यिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में निर्बाध

राज्य रहेगा। हिन्दी का काम तो वहाँ ही पड़ेगा, जहाँ एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध होगा। इसको कौन नहीं स्वीकार करेगा कि बंगाली, उड़िया, मराठी, गुजराती, तेलगू और कर्नाटकी जब एक जगह अधिकाधिक मिलेंगे, तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई एक भाषा होनी चाहिए।

इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा, भारत में जब-जब राजनैतिक एकता या अनेकता भी रही, तब-तब मानी गई। अशोक के शिला-लेखों की भाषा मैसूर, गिरनार, जौगढ़ (उड़ीसा) और कालसी (देहरादून) इसका प्रथम प्रमाण है। फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थान लिया, यद्यपि इसमें सन्देह है कि वह कचहरियों और दरबारों की बहु-प्रचलित भाषा न थी। अपभ्रंशकाल (७–१३ वीं सदी) में हम आसाम से मुलतान, गुजरात-महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा में कवियों को कविता करते पाते हैं। उनमें कितने ही दरबारी कवि हैं। इस अपभ्रंश भाषा में इन सारे प्रदेशों की भाषा का बीज मौजूद है, परन्तु उनकी शिष्ट-भाषा अवध और ब्रज के बीच की भूमि—पांचाल की भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कन्नौज मौखरियों के समय से गहड़वारों के समय (६–१२ वीं सदी) तक उत्तरी भारत का सब से बड़ा राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा। इस तरह अपभ्रंश उस समय सारे भारत में वही काम कर रही थी, जो ग़ैर सरकारी तौर से आज तक और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है।

हिन्दी को हिन्द-संघ के ऊपर राष्ट्रभाषा के तौर पर लादने का सवाल नहीं है। यह तो एक व्यवहार की बात है। मुसलमानी शासन-काल में भी कितनी ही हमारी अन्तःप्रान्तीय साधु संस्थाएँ रहीं और वे आज तक चली आ रही हैं। उन्हीं को देखिए, किस भाषा को उन्होंने सुव्यवहार्य समझ कर अपने भाषण और लिखा-

पढ़ी के लिए स्वीकार किया ? संन्यासियों या वैरागियों के अखाड़े और स्थान जाकर देखिए, वह समुद्र की तरह हैं, जहाँ सचमुच ही सैंकड़ों नदियाँ जाकर मिलती हैं और नाम-रूप विहाय समुद्र बन जाती हैं। इन अखाड़ों की बड़ी-बड़ी जमातें चलती हैं, और कुम्भ के मेलों के वक्त तो उनकी संख्या लाखों तक पहुँच जाती है। वहाँ जाकर पता लगाइए कि मालावारी, तेलगू, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिंधी साधु-संन्यासी किस भाषा में आपस में बातचीत करते हैं ? हिन्दी में और सिर्फ़ हिन्दी में। इसका गाँधी जी के दक्षिण हिन्दी-भाषा-प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी आज की हिन्दी-संस्थाओं से सदियों पहले से यह काम हो रहा है। अखाड़ों में रखी अब भी आपको दो-दो सौ वर्ष की और कुछ पुरानी भी बहियाँ और चिट्ठियाँ इस बात का सबूत देंगी। इन्हीं अखाड़ों के एक प्रतिनिधि अतिकेचनगिरि ने १८६६ संवत् (१८०६ ई०) में सोवियत के बाकू नगर के पास ज्वाला जी के मन्दिर पर शिलालेख खुदवा कर लगाया—"॥६०॥ ओं श्री गणेशाय नमः ॥ श्लोक ॥ स्वस्ति श्री नरपति विक्रमादित्य राज साके ॥ श्री ज्वाला जी निमत दरवाजा बणाया: अतिकेचनगिर संन्यासी रामदहावासी कोरेश्वर महादेव का ॥......असौज बदी ८ संवत् १८६६ ॥"

अस्तु, इससे यह तो साफ़ है कि जब-जब व्यवहार की बात आई तब-तब हिन्दी ही सारे भारत की अन्तःप्रान्तीय भाषा स्वीकार की गई। यदि इस पुराने तजरुबे को नहीं मानते हैं, तो चाहें तो फिर तजरुबे कर लें। हिन्दी-भाषा-भाषियों को अलग रख कर पंजाबी, आसामी, बंगाली, उड़िया, आन्ध्र, तामिल, केरल, कर्नाटकी, मराठी, गुजराती लोगों को ही व्यवहार से इसके बारे में फ़ैसला करने के लिए छोड़ दें। मैं समझता हूँ, यदि वे सारे भारत की एकता के पक्षपाती हैं, तो उनका तजरुबा भी

हिन्दी के पक्ष का समर्थन करेगा।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई-कोई भाई रोमन-लिपि स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं। क्या वह अधिक वैज्ञानिक है? वैज्ञानिक का मतलब है—लिपि का उच्चारण के अधिक अनुरूप होना—लेकिन रोमन-लिपि के २६ अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते। नागरी अक्षरों में हम सबसे ज्यादा शुद्ध रूप से किसी भी भाषा को लिख सकते हैं और बिना चिन्ह दिये। चिन्ह देने पर रोमन में जितने पैबन्द लगाये जाते हैं, उससे कम ही चिन्हों को लगा कर नागरी द्वारा हम दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिख सकते हैं। इसलिए जहाँ तक उच्चारण का संबन्ध है, हमारी नागरी दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

रहा सवाल प्रेस और टाइपराइटर का, तो उसमें कुछ मामूली सुधार की आवश्यकता है अवश्य, और यह सुधार संयुक्त-अक्षरों के टाइपों के हटाने, मात्राओं को 'अ' के ऊपर लगाने तथा दूसरे अक्षरों पर लटकती मात्राओं के शरीर को अपने शरीर तक समेट कर किया जा सकता है। इससे हिन्दी-टाइप की संख्या ४८५ की जगह १०४ हो जायगी। अंग्रेज़ी में १४७ टाइपों का फॉट होता है। अंग्रेज़ी की तरह छोटे-बड़े अक्षरों का अनावश्यक बोझ हमारी लिपि पर न होने से टाइपराइटर में और सुविधा है, और अंग्रेज़ी टाइपराइटर के बोर्ड पर ही सारे टाइप लग जाते हैं।

इस प्रकार सारे संघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हिन्दी ही होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उर्दू पढ़ने वालों के लिए सुविधा ही न दी जाय। हर एक को अपनी भाषा और अपनी लिपि पढ़ने का अधिकार होना चाहिए। जो उर्दू भाषा-भाषी अपनी शिक्षा उर्दू भाषा द्वारा लेना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे स्कूलों में ही नहीं, चाहें तो

अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में उर्दू को माध्यम रख सकते हैं। लेकिन जो समय सामने आ रहा है, उसे देखते हुए मैं उन्हें परामर्श दूँगा कि लिपि के आग्रह को छोड़ कर उर्दू के लिए भी वे नागरी लिपि को अपनाएँ। आख़िर पश्चिमी एशिया के ताजिक और तुर्की भाषाओं को अरबी-लिपि से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर हानि नहीं, बल्कि भारी लाभ हुआ है। सोवियत की ये भाषाएँ रूसी लिपि में लिखी जाती हैं, जो ३२ अक्षरों की होने से रोमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।

कोई-कोई उर्दू वाले कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन-लिपि को अपनाया जाय ? यदि हिन्दी (नागरी) लिपि अरबी लिपि की तरह दोषपूर्ण होती तो हमें रोमन-लिपि अपनाने में कोई उज़र होता। लेकिन रोमन-पक्षपाती उर्दू वाले भाइयों को नागरी जैसी लिपि को अपनाने में आनाकानी क्यों ? सिर्फ़ इसलिए कि अगर अरबी लिपि जाती है तो साथ-साथ हिन्दी-लिपि का भी बेड़ा ग़र्क हो।

उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है सही, किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नहीं सकता। ईसाइयों, पारसियों और बौद्धों को भारतीयता में एतराज़ नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों ? इस्लाम की आत्मरक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह उसी तरह हिन्दुस्तान की सभ्यता, साहित्य, इतिहास, वेश-भूषा, मनोभाव के साथ समझौता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य एशिया के प्रजातन्त्रों में किया। धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेड़ना आज के संसार में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। अभी हमारे राष्ट्रीय मुसलमान भाई भी नहीं समझ पाये हैं कि उनकी सन्तानों को नव-भारत में कहाँ तक जाना है। नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो अपने धर्म के पक्के हों,

किन्तु साथ ही उनकी भाषा, वेश-भूषा और खान-पान में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो; भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति आदर रखने में वे दूसरे से पीछे न हों। भारतीय संघ के मुसलमानों की भी आज की तीसरी पीढ़ी में हिन्दी के अच्छे-अच्छे कवि और लेखक उसी परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे उर्दू में हैं। वह समय भी नज़दीक आयगा जबकि 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का सभापति कोई हिन्दी का धुरंधर साहित्यकार मुसलमान होगा। आख़िर पाकिस्तान के आधे से अधिक हिस्से में अरबी-लिपि और अरबी-मिश्रित भाषा न होने से पूर्वी बंगाल में इस्लाम को ख़तरा नहीं है, फिर हिन्दी से उन्हें क्यों ख़तरा मालूम होता है?

सारे संघ की राष्ट्र-भाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल क्षेत्र है। हरियाना, राजपूताना, मेवाड़, मालवा, मध्य-प्रदेश, युक्तप्रान्त और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही वह भूमि है जिसने हिंदी के आदिम कवियों सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है, जहाँ अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही वह भूमि है जहाँ (मेरठ-अम्बाला कमिश्नरियों) पंचाल (आगरा-रुहेलखंड कमिश्नरियों) की भूमि में वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज ने ऋग्वेद के मंत्र रचे और प्रवाहण, उद्दालक और याज्ञवल्क्य ने अपनी दार्शनिक उड़ानें कीं। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृ-भाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृ-भाषा जैसी ही। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में शिक्षित, अशिक्षित, नागरिक और ग्रामीण सभी हिन्दी को समझते हैं। इसलिए यहाँ हिन्दी का राज-भाषा के तौर पर, शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना बिल्कुल स्वाभाविक है।

हिन्दी भारतीय संघ की राष्ट्र-भाषा होगी और उसके आधे से अधिक लोगों की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय

जगत् में अब एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद वही दूसरी भाषा है, जो इतनी बड़ी जन-संख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आजाता है। हिन्दी को एक विशाल जन-समूह के राज-काज और बात-चीत को ही चलाना नहीं है, बल्कि उसी को शिक्षा का माध्यम बनना है। फिर आज-कल शिक्षा सिर्फ़ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विश्व की प्रत्येक उन्नत भाषा का साहित्य अधिकतर साइन्स के ग्रन्थों पर अवलम्बित है। अभी तक तो साइन्स की पढ़ाई अंग्रेज़ी ने अपने सिर पर ले रक्खी थी, किन्तु अब अंग्रेज़ों के साथ अंग्रेज़ी का राज्य जा चुका है। सरह-स्वयम्भू से पन्त, निराला, महादेवी तक का हिन्दी काव्य-साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। नाटक छोड़कर सभी अंगों में विश्व के किसी भी प्राचीन और नवीन साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा छोड़ी है, वह काफ़ी आगे बढ़ी है। किन्तु अब हिन्दी में सारा ज्ञान-विज्ञान लाना होगा। कुछ लोग इसे बहुत भारी, शायद सदियों का काम समझते हैं; परन्तु मेरी समझ में यह उनकी भूल है। आज जिस चीज़ की मांग हो, उसे साहित्य-जगत् में सृजन करने वालों की कमी नहीं होती।

हमारे स्वतंत्र देश के सामने बहुत और भारी-भारी काम हैं। हमारी चिरदासता ने हमें दुनिया के और देशों से बहुत पीछे रक्खा है। विदेशी शासक इसी में अपना हित समझते थे। अब सदियों की पिछड़ी यात्रा को हमें वर्षों में पूरा करना है। इसमें साहित्य की सहायता सब से अधिक आवश्यक है। हमें ऐसा साहित्य तैयार करना है, जो दुनियाँ की दौड़ में आगे बढ़ने में सहायक हो, न कि हमें पीछे खींचे। निराशावाद के लिए मैं कहीं भी गुंजाइश नहीं देखता। हमारे पास बुद्धि-बल है। हमारी

भारत-मही सचमुच वसुन्धरा है। हमारे बहत्तर करोड़ हाथ हैं। हमें विश्व की सब से बड़ी तीन शक्तियों में अपना स्थान लेना है। इसलिए भारत के हरेक पुत्र और पुत्री के विश्राम लेने का मौका नहीं है। सबको एक साथ लेकर आगे कदम बढ़ाना है। देश के उद्योगीकरण और कृषि को विज्ञान-सम्मत बनाने में हमारे साहित्य को बहुत बड़ा भाग लेना है। आगे पच्चीस साल देश का सब से अधिक कर्मठ जीवन होना चाहिए। हम भारत माता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें।

हास्य का मनोविज्ञान

(श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी०)

हसी क्यों आती है ? किसी बात अथवा किसी स्थिति के भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पड़ते हैं ? जब शब्दों में श्लेष का व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़क पर किसी को बाइसिकल से फिसल कर गिरता देखते हैं, अथवा जब किसी अभिनेता की विचित्र भाव-भङ्गी देखते हैं, हमें हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारों में कोई ऐसी बात छिपी है, जो सबमें सामान्य है ? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने शृंगार-रस के अन्वेषण में इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसों की सूक्ष्मता पर विचार करने का उन्हें अवकाश ही न मिला। हाँ, हास्य को उन्होंने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है—शब्द-वेश-कुरूपता इत्यादि उद्दीपन हैं। परंपरा के अनुसार इसके देवता, रङ्ग, विभाव, अनुभाव सब स्थिर कर लिये गये। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकार की होती है। यह सभी बाह्य बातें हैं। जहाँ उद्दीपनों की व्याख्या इस रस के सम्बन्ध में की गई, वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था

कि क्यों उन्हें देख-सुनकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफ़-लातून जैसे विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की, पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली स्पेंसर आदि ने भी इस पर विवाद किया है। अधिकांश विद्वानों ने इसी तर्क में अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बात पर हसी आती है। क्यों हँसी आती है ? इधर कम लोगों ने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषय में तीन बातों का समावेश होना आवश्यक है। पहली बात, जो सब हँसी की बातों में पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुत-से लोगों ने मनुष्य को वह प्राणी बत-लाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बड़ा मनलुभावना हो, सुन्दर हो, परन्तु उसे देखकर हँसी नहीं आती। हाँ, किसी पेड़ की डाली का रूप किसी मनुष्य के चेहरे के आकार के समान बन गया हो, अथवा किसी पर्वत-शिला का रूप किसी व्यक्ति के अनुरूप हो, तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्ता देखकर भी हँसी आ जाती है; परन्तु सचमुच यदि हम ध्यान दें तो टोपी अथवा कुर्ते पर हँसी नहीं आती, बल्कि मनुष्य ने जो उसका रूप बना दिया है, उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातों के सम्बन्ध में—जिन्हें देख या सुन या पढ़ कर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरण में मनुष्य किसी-न-किसी रूप में छिपा है। दूसरी बात जो हँसी के विषय में आचार्यों ने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणा का अभाव। भारतीय शास्त्रियों ने भी करुण-रस को हास्य का विरोधी माना है। जब तक मनुष्य का हृदय शान्त है, अविचलित है, तभी तक हास्य का प्रवेश हो सकता है। जहाँ कारुणिक भावों से हृदय उद्वेलित हो, वहाँ हँसी कैसे आ सकती है ? भावुकता हास्य की सबसे बड़ी शत्रु है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो हमारी दया का पात्र है,

अथवा जिस पर हम प्रेम करते हैं, उस पर हम हँस नहीं सकते। परन्तु उस अवस्था में, क्षण ही भर के लिए सही, हमारे मन में प्रेम अथवा करुणा का भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानों की मण्डली में जहाँ बड़े परिपक्व बुद्धि वाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो, हँसी कुछ-न-कुछ होती ही है। परन्तु जहाँ ऐसे लोगों का समुदाय है, जिनमें भावुकता की प्रधानता है—बात-बात में जिनके हृदय पर चोट लगती है, उन्हें हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदास का एक सवैया है—

> बिन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
> गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
> ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्ही भली रघुनायकजू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इस कविता में व्यंग द्वारा जो परिहास किया गया है, उसके कारण सहज ही में हँसी आजाती है; परन्तु यदि हम इसे पढ़कर उस काल के साधुओं के आचरण पर सोचने लगें तो हास्य के स्थान पर ग्लानि उत्पन्न होगी। संसार के प्रत्येक कार्य के साथ यदि सब लोग सहानुभूति का भाव रक्खें तो सारे संसार में मुर्दनी छा जाएगी। सब लोगों के हृदय की भावनाओं के साथ हमारा हृदय भी स्पंदन करे; तो हँसी नहीं आसकती और वही यदि तटस्थ रहकर संसार के सभी कृत्यों पर उदासीन व्यक्ति की भांति देखा जाय, तो अधिक बातों में हँसी आजाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीय के मर जाने पर बड़ा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नहीं है, तो सुनने वाले को हँसी आजाएगी। रोने का अभिनय जो कितने अभिनेता करते हैं, उसे सुनकर रुलाई नहीं आती, बल्कि हँसी; क्योंकि वहाँ वेदना का अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए—कहीं नाच होता हो और गाना एकदम बंद कर दिया

जाय और बाजा भी, तो नाचने वाले को देखकर तुरन्त हँसी आ जाएगी। हँसी के लिए आवश्यक है कि थोड़ी देर के लिए हृदय बेहोश होजाय। भावुकता की मृत्यु तथा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिए जरूरी है। हँसी का सम्बन्ध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नहीं। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का सम्बन्ध और लोगों की बुद्धियों स बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनन्द कैसे आ सकता है? हास्य के लिए प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है, तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती रहती है। परन्तु हँसने वालों की संख्या अपरिमित नहीं हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं, उनका आनन्द इसी कारण सब को नहीं आता; जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं, उन्हीं को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातों में होता है। दस व्यक्ति बातें करते हैं और हँसते हैं—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है, वे तो हँसते हैं और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में इसी कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंग-पूर्ण लेख अथवा कविता हो, इन तीन बातों की भित्ति पर यदि ये बने हैं, तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है, पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते,

समझते या पाने की आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैः-शनैः परिवर्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए, उसका अभाव अथवा जो न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाये। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गये थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मज़ाक कर रहे थे और ज़ोर-ज़ोर से हँस रहे थे। यह देख कर जिसके यहाँ हम लोग गये थे, उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग ग़मी की दावत में आये हैं। यह सुन कर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े ज़ोरों का कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था; पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका। यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आगई। एक आदमी चला आ रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है; सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हसते। वास्तव में जब किसी को लोग चलता देखते हैं, तब यही आशा करते हैं कि वह चलता जायगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी। तम्बू के नीचे नाच हो रहा था। तम्बू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी

हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल दीं। एक ओर से तम्बू गिरने लगा। यकायक सारी मण्डली में भग-दड़ मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफ़िल वालों के भागने पर बड़े ज़ोर से हँसने लगे। यह जो स्थिति में सहसा परिवर्तन हो गया, वही हँसी का कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंगचित्र ही देखकर हँसी इसलिए आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ़ इञ्च की नाक होनी चाहिए, वहाँ तीन इञ्च की, जहाँ दो फ़ीट के पैर होने चाहिएँ वहाँ पाँच फीट के रहते हैं। हाज़िरजवाबी की बातों पर भी इसीलिए हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुनने वाले को नहीं है, वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गंभीरता का भाव हृदय में न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गम्भीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिए आवश्यक है। यह इसलिए कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्य के वैरी हैं। हास्य से गंभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बात पर साधारण-सा परिवर्तन होने पर हँसी आ जाती है, पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।

मान लीजिए, कोई सज्जन कहीं जाने के लिए कपड़ा पहनकर तयार हैं और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरी में पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गम्भीरता है। अब मान लीजिए कि पान में चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह में काटता है, तो खाने वाला मुँह बनाता है। आपको उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस

समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध में वह तश्तरी उठा कर अपनी स्त्री के ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ में तश्तरी से चोट आगई है। अब हमें क्रोध आजाता है और पुनः गम्भीर हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गंभीरता का विचारमात्र हास्य के लिए घातक है। साथ ही यह भी है कि गंभीरता की जब अति होने लगती है, तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलम्बित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नहीं हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते; गंभीर लोगों पर हँसी आती है। हाँ, हास्य की पूर्ति के लिए व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दे से भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में, विशेषतः कविता में और अंग्रेज़ी-साहित्य में भी, प्रचुर परिमाण में व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंग में भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति में जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर संकेत रहता है, इसीसे उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।

विकासवाद या ह्रासवाद

(आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

सभ्य संसार के इतिहास में वैदिक सभ्यता बड़ी पुरानी है। वैदिक साहित्य सबसे पुराना साहित्य है। जिस समय यहाँ पर वेद के ज्योतिस्तम्भ से प्रकाश की रश्मियां निकलकर सिन्धु और सरस्वती के विमल जल-तल के ऊपर चिलबिल-चिलबिल करती थीं और उनके तीर पर बसने वाले लोग जल के साथ ही साथ ज्ञानामृत का भी पान करते थे, उस समय अभी शेष संसार के ऊपर प्रलय-काल के गाढ़ अन्धकार का ही अकण्टक साम्राज्य छा रहा था।

यह ठीक है, वेद ज्ञान का प्रथम उद्गार है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आजकल के सुशिक्षित, विज्ञानी, कला-कौशल में निपुण सर्वांगपूर्ण लोगों के लिए वेद में सब विद्याएँ मौजूद हों। वे किस लाभ को लक्ष्य बनाकर वेदाध्ययन के लिए इतना कष्ट सहें और आपत्तियों का सामना करें? आज मनुष्य निर्जीव जगत् का शासक बन रहा है। एक एँजन की पीठ पर बैठकर, दूसरे एँजन का धुवाँ मुख और नासिका के छिद्रों में से फप-फप निकालता हुआ मनुष्य किस उद्देश्य से अपना मुँह पीछे की ओर मोड़े? अपने पूर्वजों के गो-यानों, अश्व-यानों के वर्णन में; नदियों और पर्वतों के स्तोत्रों में, भेड़-बकरियों के माहात्म्य के गीतों में आज हम अपने लिए क्या ढूँढ़ सकते हैं? यदि कोई अच्छी बात निकली भी, तो भी यह वैसे ही व्यर्थ परिश्रम होगा जैसे सारा दिन पहाड़ खोद-खोद कर अन्त में चूहा हाथ लगे और मनुष्य यह कहकर सन्तोष धारण करले कि अच्छा,—लाज तो रह गई!

नहीं, यह बात नहीं। वास्तव में मनुष्य-समाज की उन्नति मोटरों की दौड़ से या बिजली की चमक और भिन्न-भिन्न प्रकार के फ़ोनों के आश्चर्यजनक चमत्कारों से मापना कठिन है। मनुष्य सदा से अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रकृति का भोग करते आये हैं। ज्यों-ज्यों अधिक बहिर्मुख होकर वे अपनी तृष्णा को विशाल करते हैं, प्रकृतिदेवी भी अधिकाधिक हाव-भाव के जटिल जाल का विस्तार करती हुई, एक ओर से तो उन्हें खींचे चली जाती है और दूसरी ओर से, ज्यों ही वे आगे बढ़ते हैं, वह भी आगे-आगे दौड़ी चली जाती है। सैंकड़ों नये-नये मार्गों पर सहस्रों नये-नये दृश्यों को देखकर मनुष्य चकित हो जाते हैं। अन्त में कोई किसी में और कोई किसी में रह जाता है।

प्रत्येक युग में धन से प्रेम करने वाले और विद्या से उदासीन, तथा विद्या से प्यार करने वाले और सम्पत्ति से विमुख

और धन और विद्या दोनों की ओर झुके हुए लोग रहा ही करते हैं। एक समय में एक समुदाय बलवान् बन जाता है और दूसरे समय में दूसरे प्रकार के लोगों की बारी आती है। इस बात को ध्यान में रखकर जब हम इतिहास के पन्ने उलटते हैं, तब सर्वत्र समय-समय पर भिन्न-भिन्न तरंगें उमड़ती हुई देख पड़ती हैं। इनके बहाव में ही संसार बहा करता है। दूसरे शब्दों में इसी बात को यों कह सकते हैं कि जन-समुदाय के सम्मुख आदर्श बदल-बदल कर रक्खे जाते रहते हैं।

संसार की रचना के अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी परिवर्त्तन-प्रिय है। एक आदश के पीछे दूसरे का पर्याय आता है। यही कारण है कि संसार-चक्र में भिन्न-भिन्न चक्र चल कर प्रत्येक विचार को जनता के सामने आने के लिए एक से अधिक बार अवसर मिलता है। इन भिन्न-भिन्न विचारों के साथ सारी परिस्थितियाँ भी नये सिरे से प्रकट होती हैं। यदि विशेष बाधाएँ उपस्थित न हों, तो पूर्ण विश्वास से कहा जाता है कि उसी प्रकार की घटनाएँ भी होती रहती हैं। इसी नियम को विद्वान् लोग इतिहास के पुनरावर्तन के नाम से स्मरण करते हैं।

आजकल विकासवाद का सिद्धांत विजयी हो रहा है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, इसी के रंग में रँगा हुआ विद्वानों के मुखारविन्द से निकलता और सुननेवालों के कानों में पड़ता है। सब विद्याएँ और सब कलाएँ इसी का गुण-गान कर रही हैं। सब दर्शन और सब विज्ञान इसी के पाँव की ओर माथा झुकाये हुए नीची आँखों ताकते हैं। सब मत और सब सम्प्रदाय, गणों के गण, इसी के चारों ओर घेरा डाले पड़े हैं। प्रत्येक जीवन-वर माँग रहा है। सिर रगड़-रगड़ कर और इसी की पाद-रज मस्तक पर रमा-रमा कर, इस देवों-के-देव के आदेश की बाट जोहता है। प्रत्येक करुण-विलाप करता हुआ सुनाई पड़ता है—"हे देव! कृपा

करना। मेरा सब मान-गुमान तुम्हारे प्रमाणपत्र के बिना मुरझाया जाता है। यह सिर का हिलाना बन्द करो, नहीं तो मरी ग्रीवा पर एक बाल के सहारे लटकती हुई तीक्ष्ण असि-धारा अब पड़ी कि अब पड़ी। मेरे प्राण संकट में हैं। मेरी आँखें पथराई जाती हैं। मेरा जी गिरता और दिल धड़कता है। कानों में साएँ-साएँ की शुष्क ध्वनि और अंगों में शिथिलता बढ़ती चली जाती है। मेरा नाक ठण्डा पड़ रहा है। कर आगे कर मेरे मन्द श्वास को मेरे बन्धुगण देख-भाल रहे हैं। गले में घिग्गी बँध गई है। हा, प्रभो! मैं डूबा जा रहा हूँ। बचाओ, बचाओ! मेरे सर्वस्व तुम हो। जीवन तुम हो। माई-बाप तुम हो। तुम्हारे एक शब्द में मेरी जीवन-घुट्टी है। दया करो, दया करो।" ये शब्द हैं जो प्रत्येक के मुँह से काँपते हुए निकल रहे हैं। यह देवता सुगमता से प्रसन्न होने वाला नहीं।

थोड़े से शब्दों में इस सिद्धान्त का सार यह है। संसार उन्नतिशील है। प्रत्येक विभाग में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। क्या प्राकृतिक और क्या मानसिक, सामाजिक अथवा आत्मिक जीवन के अंगों में कल से आज और आज से आने वाला दिन आगे है। पशु-पक्षियों का शरीर मनुष्य के शरीर का एक प्रकार से पूर्वरूप है। काल-क्रम से परिस्थिति के परिवर्तन हो जाने के कारण, शीतोष्ण के प्रभाव से अङ्ग-प्रत्यङ्ग घट-बढ़ कर, झड़ कर और बढ़ कर, लम्बे, छोटे और गोल होकर, अर्थात् भान्ति-भान्ति के परिवर्तनों में से गुज़रते हुए वर्तमान भिन्न-भिन्न जातियों की देह का निर्माण हुआ। मानुष-काया सब से बढ़ कर सूक्ष्म, अतएव उत्क्रान्ति-युक्त है। मछली और मेंढक के, हाथी और शेर के, भेड़ और बकरी के, गौ और घोड़े के, कुक्कुड़ और मोर के स्मारक कुछ-न-कुछ अंश इसमें विद्यमान हैं।

आरम्भ में मनुष्य का मस्तिष्क अनुभव तथा शिक्षा के

अभाव के कारण बहुत दूर की न सोच सकता था। शनैः-शनैः उसकी सार ग्रहण करनेवाली सूक्ष्म शक्तियाँ पदार्थों के अन्दर घुसने लगीं। पक्षियों की पीं-पीं और चीं-चीं से, भेड़-बकरियों की मैं-मैं से, गौ और भैंस की बाँ-बाँ से, जंगल के सूखे पत्तों की सर-सर से, झाड़ियों और वृक्षों के झुण्डों के झंझावात के प्रकोप से पैदा होने वाले झङ्कार से, बादलों की गरज से और बिजली की कड़क से बोलना सीख कर, उसने लाखों भेदों में विभक्त बोलियों और सहस्रों भिन्न-भिन्न भाषाओं का क्या विस्तृत ढाँचा बना लिया है! मैं और तू के दो शब्दों के कोष का विस्तार कोसों में भी न समानेवाले वाङ्मय के रूप में हो गया है, और नित्य बढ़ता चला जा रहा है। अच्छी-अच्छी कविताएँ, दिल बहलाने वाली और शिक्षा देने वाली कथाएँ, बड़े-बड़े मनोरञ्जक उपन्यास, नये-से-नये नाटक, उत्तमोत्तम सार-वस्तु से भरपूर पुस्तकों की मालाएँ आज मनुष्य के साहित्य-सदन की शोभा को चार चाँद लगा रही हैं।

पहले-पहल मनुष्य सूर्य और चाँद को देख कर आश्चर्य करता था कि यह तेज और शीतल प्रकाश के गोले कहाँ से आ जाते हैं। प्रातः और सायं की लाली, पूर्णमासी की चाँदनी से उज्ज्वल तथा अमावस्या के अगाध अन्धकार से ढाँपी हुई रात का दृश्य, नाचते और कूदते हुए तारागण की सुन्दरता, उसकी हैरानी के लिए पर्याप्त सामग्री थी। विशाल पर्वतों पर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, झर-झर करते हुए पर्वतों के झरने, ठाठें मारती हुई नदियाँ, उमड़-उमड़ कर आती हुई लहरों के उभरते हुए सफेद झाग के रूप में मानों मन के वेग को प्रकट करता हुआ समुद्र—ये पदार्थ उसे भयभीत कर देते थे। शनैः-शनैः उसने बाहर की विशालता में गंभीरता को धारण करना सीखा है। अब वह पर्वतों के सामने हाथ जोड़ने के स्थान पर उन में से सुरङ्गें निकालता और सड़कें बनाता है।

नदियों के कवित्त नहीं गाता, उनकी छाती पर पुल बनाकर हज़ारों और लाखों मन की गाड़ियाँ चलाता है। आज दार्शनिक बुद्धि, विज्ञान के सहारे स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से अदृश्य तक जा पहुँची है। पत्थर से लेकर मनुष्य तक सब एक ही लड़ी में पिरोये जा रहे हैं। जड़-चेतन का विभाग उड़ गया है।

ऐसे ही धार्मिक तथा सामाजिक जीवन आरम्भिक दशा से निकल कर विकास को प्राप्त हो रहा है। प्रथम जहाँ आत्मरक्षा ही एकमात्र विचार था, वहाँ अब न्याय-अन्याय का विवेक भी साथ मिल रहा है। पहले-पहल जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर लेता था, वहाँ अब सामाजिक जीवन इतना ओत-प्रोत हो रहा है; एक का निर्वाह दूसरों के साथ इतना जुड़ गया है कि लाखों मनुष्य एक-एक स्थान पर मिल कर रहते और नगर बसाते हैं।

वेद संसार में सबसे पुरानी पुस्तक है। वैदिक सभ्यता आरम्भिक सभ्यता है। उसकी अवस्था को पुनर्जीवित करने का यत्न सर्वथा व्यर्थ है। यह वन में रोने के समान है। सुननेवाला कोई नहीं। इसका समर्थक होना अपनी मूर्खता का प्रकाश करना है। वैज्ञानिक उन्नति के स्थान पर जड़ जगत् की पूजा और सादा पशुपने का जीवन कौन विद्याप्रेमी पसन्द करेगा? अतः वेद का उद्धार करने का भाव सार-रहित और बलहीन होने के कारण छोड़ देना चाहिए। यह हुआ विकासवाद।

विकासवाद एक आधुनिक विचार है। इस से अत्यन्त पुराना एक और वाद है। इसे हम ह्रासवाद के नाम से पुकार सकते हैं। वह सब युगों में सब जातियों के साहित्य तथा वर्तमान व्यवहार में पाया जाता रहा है। जब कभी किसी से यह कहा जाता है, कि अमुक कार्य तो बड़ा खराब है, न्याय से शून्य तथा अत्याचार युक्त है, इसका परित्याग करो, तो वह क्या उत्तर देकर अपना

पल्ला छुड़ाता है—'यह रीति मेरे पूर्वजों की है' बाप-दादा और पूर्वजों के नाम पर मनुष्य ने अपनी सन्तान और भाइयों को बेचा, अपने-जैसों को अपने विनोद के लिए नाना प्रकार के दुखों और क्लेशों का निशाना बनाया; बे-बस, जिह्वा-रहित निर्दोष पशुओं और पक्षियों को सताया और लाखों बेहूदा, हंसी दिलाने वाली कपोल-कल्पित, मिथ्या लीलाओं को माना और मनवाया है।

जहाँ प्रकृति में नित्य गति पाई जाती है, वहाँ इसके साथ उसे विशेष नियम में रखने के लिए एक विरुद्ध गुण भी पाया जाता है। यह है परिवतन में अरुचि। भौतिक संसार में इसके अनेक परिणाम हैं। सामाजिक जीवन में भी चरितार्थ होकर यह समाज की बँधी हुई मर्यादाओं को अतिशीघ्र बदलने से बचाता है। हमारा भोजन, हमारा घरेलू जीवन, हमारा रहन-सहन तथा पहरावा—सब इसी नियम के अधीन होकर चिरकाल तक एक ही सीमा के अन्दर-अन्दर घूमते रहते हैं। साहित्य में बे-लगाम लेखकों की आपा-धापी इसी से रुकती है। कर्मकाण्ड तथा रीति-रिवाजों में ढीलेपन का यही एक इलाज है। इस वृत्ति का यह मानसिक प्रभाव होता रहा है कि प्रत्येक जाति अपना सुनहरी युग सदा पीछे ही देखती रही है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी बाल्यावस्था के वर्णन में विशेष रस आया करता है। अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी अपने बचपन की चञ्चलता को स्मरण करके एक बार तो आनन्द के आँसुओं से डाढ़ी के सफ़ेद बालों को तर कर देता है। इसी प्रकार सब जातियाँ अपने आरम्भिक इतिहास के पर्यालोचन में आनन्द अनुभव किया करती हैं। उन्हें प्राचीन शब्दों में दिव्य गान सुनाई देता है। पूर्वजों की मूर्तियों में देवता और उनके मकानों के खण्डहरों में विशाल स्वर्ग के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इस विचार के अनुसार प्रत्येक विषय में पुरानी मर्यादा ही प्रमाण

है। अच्छी हो या बुरी, हर बात में उस मर्यादा को तोड़ना बुरा समझा जाता है। आजकल मनुष्य बहुत गिर गया है। धर्म-कर्म का कोई बल नहीं रहा। सामाजिक सम्बन्ध की शुद्धि दूर भाग गई है। परस्पर विश्वास का गन्ध भी नहीं बचा। शरीर, मन और आत्मा सभी दुर्बल हो गए हैं। सारी काया पलट गई है। क्या कहें, कोई रहने योग्य समय नहीं रहा। दिन पूरे कर रहे हैं,—इस प्रकार की अनेकों बातें इस ह्रास-वाद के बहाव में बहकर मनुष्य किया करते हैं।

वस्तुतः दोनों भूल में हैं। दोनों वादों में थोड़ा-बहुत सत्य पाया जाता है। स्थिरता जगत् में नाम को नहीं। आज जो आकाश में स्वेच्छाचारी है, वही कल लोहे के पिंजरे में बन्द होजायगा। जैसे पहिये के भिन्न-भिन्न भाग ऊपर-नीचे बदलते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य के व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् वह नहीं, जो प्रत्येक बात में प्रत्येक क्षण में पूर्व की अपेक्षा उन्नति-ही-उन्नति समझता है और न ही उसे सियाना समझना चाहिए, जो वर्तमान की सब बातों में दोष-ही-दोष देखता है। भूतकाल का निरादर करना अथवा उसकी चिता पर रोना, एक-जैसी मूर्खता है।

किसी समय एक विचार प्रबल है और दूसरे समय दूसरा विचार बल पकड़ लेता है। इस प्रकार से एक चक्र-सा बना रहता है। जैसे, कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाम के नाटक की भूमिका में कहते हैं—"कोई वस्तु इसलिए ग्रहण मत करो क्योंकि वह प्राचीन है और न ही दूसरी का इसलिए अपमान करो क्योंकि वह नई है"* । भूगर्भ विद्या के विद्वानों ने धरातल को खोद-खोद कर मनुष्य-जाति के पूर्वजों के बनाये हुए, हैरान

*पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

करनेवाले पदार्थ निकाल-निकाल कर विकासवाद की बाल की खाल निकालनेवालों का मुँह बन्द कर दिया है। प्राचीन लोगों के शिल्प, कला-कौशल तथा विद्या के चमत्कारों के प्रमाणों के सामने तो इस सिद्धान्त का सारा बखेड़ा एक मखौल ही जँचने लगता है। पुरानी कविता में वह रस टपकता है जो आजकल के अति-प्रसिद्ध कवियों के भी शब्दों में शायद ही देखने में आता हो। पुराने दर्शनकारों की बारीकियाँ, कविसम्राटों के वाणी-विलास, व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र के बनानेवालों की भाषाविज्ञान में निपुणता, शिल्पियों के शिल्प, महात्माओं की तपस्या और आत्मिक बल के वृत्तान्त—ये बातें देखकर इसी परिणाम पर मनुष्य पहुँचता है कि जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उन्नति के आदर्श में लाखों वर्षों से कोई विकास नहीं हुआ। दूसरे विचार में भी इसी प्रकार अत्युक्ति से काम लिया गया है।

कोई पदार्थ पूर्ण नहीं। गुण तथा दोष की परीक्षा कर, गुण का ग्रहण तथा दोष का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक सभ्यता में जो संसार में कुछ काल के लिए राज्य करती है, कुछ गुण पाये जाते हैं। अन्यथा वह संसार में क्षण भर भी न ठहरने पावे। किसी सभ्यता की उन्नति की परीक्षा इस बात से करनी चाहिए कि उसके द्वारा कितनी जनता ने कितना सुख पाया है।

चार्वाक दर्शन

(श्री पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

सन्देहवाद बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी दर्शन-भूमि में लग जाते हैं, तो उन्हें दूर करने के सतत प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। वृक्षरूप में वे बढ़कर तैयार हो ही जाते हैं। उन्हें कितना भी काटा जाय, बेर के पेड़ के समान वे आप-से-आप पुनः उत्पन्न हो जाया करते हैं।

विचार-प्रभञ्जन कतिपय क्षण के लिए ही सन्देह के बादलों को इतस्ततः विक्षिप्त करने में समर्थ हो सकता है। परन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होता है, वे फिर गगन-मण्डल में आ धमकते हैं और गाढ़ तिमिर-पटल से ज्ञान-सूर्य को भी निगल जाने के लिए तैयार रहते हैं।

भारतीय तत्वज्ञान के इस नये युग के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों ने अनेक ऐसे अवैदिक मतवादों को जन्म दिया जिनके मूल में यही सन्देहवाद क्रियाशील था। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन ही प्राचीनता की दृष्टि से सर्वप्रथम माना जाता है। 'यही लोक आत्मा का क्रीड़ास्थल है; इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है; यह शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है; धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है; मानव-जीवन के लिए 'काम' ही पुरुषार्थ है'—आदि चार्वाक-सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में सुदूर प्राचीन काल से चला आता है। इसके माननेवाले लोग शुद्ध बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे। सिवाय अपने तर्कों के ये लोग किसी भी शास्त्र का प्रमाण नहीं मानते थे।

चार्वाकों की तत्व-मीमांसा भी अपने ढंग की एक निराली वस्तु है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु—ये ही चार जगत् में तत्व है। बौद्धों के समान ही चार्वाकों का मत था कि आवरणाभाव होने से आकाश शून्य ही है; कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं। ये ही पृथिव्यादि भूतचतुष्टय अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं। पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के संमिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है, पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ईश्वर की सत्ता शब्द तथा

अनुमान प्रमाणों से सिद्ध मानी जाती है। पर श्रुति के प्रामाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता मानने के लिए उद्यत नहीं है। नैयायिक लोग ईश्वर का सद्भाव अनुमान के आधार पर मानते हैं—'यदि घड़ा कोई कार्य पदार्थ है, तो उसका कर्ता कुलाल अवश्य ही विद्यमान है। यह दृश्यमान जगत् भी कार्यभूत है। अतः इसका भी कर्ता कोई अवश्यमेव विद्यमान होगा'। पर चार्वाक प्रत्यक्षवादी है; वह अनुमान की प्रामाणिकता नहीं मानता। अतः उसके मत में शब्द तथा अनुमान की असत्यता सिद्ध होने से ईश्वर की स्वतः असिद्धि है। रहा जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न। इसके लिए वे वस्तु-स्वभाव को कारण मानते ही हैं। स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या हल कर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर नामक पदार्थ की कल्पना के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता।

चार्वाकों की ज्ञान तथा तत्वमीमांसा के अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की कल्पना अंगीकार नहीं करते। इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानव-जीवन के कर्तव्याकर्तव्य की भी विशद समीक्षा करते हैं। दार्शनिक लोग मानव मात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पदार्थों को उपादेय बतलाते हैं तथा पुरुष मात्र के लिए अर्थनीय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से पुकारते हैं। पर चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

मीमांसक गण वेदविहित विधि-विधानों के अनुष्ठान को धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह वेद-प्रतिपाद्य यज्ञ-यागादिकों का अनुष्ठान कर मरने के बाद स्वर्ग-सुख का उपभोग करे। पर इस लोक के ही अस्तित्व को मानने वाले चार्वाक लोग स्वर्ग की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। जब

स्वर्ग नामक सुखप्रधान लोक ही असिद्ध है तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह के क्लेश देकर तपस्या करना तथा समधिक द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देने वालों को बड़ी खरी-खोटी सुनाई हैं। उनका कहना है कि किसी कपोल-कल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जीव-विशेष की हत्या कर याग-साधन करना पहले दर्जे की मूर्खता है। "ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता, तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता ?" कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है ? '(यदि श्राद्ध के करने से मरे हुए जन्तुओं की तृप्ति होती, तो तेल डालने से बुझे हुए दीपक की भी शिखा बढ़ती")। पर जगत् में क्या ऐसी अघटित घटना देखी गई है ? दीपक के बुझ जाने पर कितना भी तेल डाला जाय, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। इन स्पष्ट उदाहरणों के आधार पर मृतक की तृप्ति के लिए श्राद्ध करने की कल्पना नितान्त निराधार है। क्या यहाँ दान देने से स्वर्गस्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है ? यदि ऐसी बात सम्भव मानें, तो महल के ऊपर रहनेवाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीजें दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमत्ता स्वयं सिद्ध होती है। चार्वाक लोग वेद-विधानों की कपोल-कल्पना सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में धर्म तथा अधर्म की मूलकल्पना में न तो विश्वास करते हैं, तथा न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते हैं।

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाकों की विलक्षण है। सब दार्शनिकों के ऐकमत्य को अंगीकार करते हुए चार्वाक ने भी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को मुक्ति माना है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही

भोगायतन शरीर है। जब तब शरीर है, तब तक जीव नाना प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। अतः 'मरणमेवापवर्गः' (बृ० सू०) मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है।

अब जीवन के लिए लक्ष्य क्या है? अर्थ और काम। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तत्सहायक होने से अर्थ में भी पुरुषार्थता आती है। प्राणिमात्र के लिए जीवन का उद्देश्य होना चाहिए—ऐहिक सुख की प्राप्ति। लौकिक सुख जीवन का चरम लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि "जब तक जीए, सुखपूर्वक जीए। अपने पास द्रव्य का अभाव होने पर ऋण लेकर घृत पीए—आनन्द से मालपूआ चाभे। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता के बोझ से अपने को दबाये न रहे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है? अतः "खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ"—यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है।"

विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है। दुःख से मिश्रित होने से क्या सुख त्याज्य है? क्या दुःखमिश्रित सुख की चाह हमें न करनी चाहिए? जिस प्रकार मत्स्यार्थी कण्टकयुक्त मछलियों को ग्रहण कर ग्राह्यांश को ले लेता है और अन्य अंश (कण्टक आदि) को छोड़ देता है; जैसे धान्य को चाहनेवाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेय अंश (अनाज आदि) को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से संभिन्न सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-लाभ करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही ठहरी कि दुःख के भय से अनुकूल वेदनीय सुख का सर्वथा त्याग किया जाय। जगत् में मृग हैं, तो उनके भय से क्या

धान नहीं रोपे जाते? मांगनेवाले भिक्षुओं की सत्ता बनी हुई है, तो क्या भोजन बनाने के लिए आग पर पात्र न चढ़ाया जाय? विषय के संगम से उत्पन्न सुख दुःख के साथ मिश्रित होने से त्याज्य है—यह मूर्खों का विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफ़ेद, सुन्दर कणों से युक्त धान को इसी कारण छोड़ देता है कि उनके ऊपर भूसी का हलका छिलका लगा रहता है। सारांश यही है कि जीवन सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। स्वर्ग-नरक तो इसी भौतिक जगत् में विद्यमान हैं। सुख की प्राप्ति स्वर्ग है तथा दुःख का मिलना नरक है। अतः ऐहिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणिमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

पाश्चात्यदर्शन तथा चार्वाकमत—दार्शनिक जगत् में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार बृहस्पति तथा चार्वाक भौतिकवाद के समर्थक हैं, उसी प्रकार प्राचीन ग्रीस-दर्शन के इतिहास में डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०), एपिकुरिअस (३४९ ई० पू०) तथा लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) भौतिकवाद के संस्थापक तथा प्रचारक हैं। इस मत के अनुसार हाथ-पाँव के समान आत्मा भी मनुष्य के शरीर का अंशमात्र है। वह चतुर्विध परमाणुओं के समुच्चय का फल है। अतः शरीरपात के साथ आत्मा के उच्छेद होने के कारण आत्मा का अमरत्व नितान्त असिद्ध है। इस जगत् की रचना में न तो कोई उद्देश्य है और न इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर दूसरा कोई रचयिता ही है। साधारण जन देवताओं पर इस विश्व के निर्माण का उत्तरदायित्व रखते हैं, पर यह सिद्धान्त भी प्रमाणाभाव में निःसार है। अनन्त परमाणुओं में से किन्हीं परमाणुओं के अहेतुक यादृच्छिक संघात की ही व्यावहारिक संज्ञा 'जगत्' है। जगद्रचयिता के अभाव में उपवास, व्रत, प्रार्थना आदि उपचारों से उसे सन्तुष्ट करने के विधान बतलाने वाला धर्म नितान्त

असिद्ध है। एपिकुरिअस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति बतलाया है, परन्तु कैसा आनन्द ? इन्द्रिय-वृत्तियों को चरितार्थ करने वाला भौतिक सुख नहीं प्रत्युत समानशीलव्यसन वाले मित्रों की मण्डली में अनुभूयमान मानसिक आनन्द, जिसे मानते हुए सादगी का जीवन बिताना ही इस मानव-जीवन का उद्देश्य है। ल्यूक्रेशियस ने इस विषय में अपने गुरु का अनुसरण किया है। वह शान्ति सात्विक जीवन, सत्यपालन, कर्तव्य-निर्वाह के पवित्र उद्देश्य को जीवन का लक्ष्य मानता है। इस प्रकार एपिकुरिअस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा चार्वाक के सिद्धान्त में आश्चर्यजनक सादृश्य है। हेडोनिज्म के सिद्धान्त को जनसाधारण ने जिस प्रकार पीछे के समय में अत्यन्त निकृष्ट रूप में परिवर्तित कर दिया, चार्वाकमत में भी इसी प्रकार का परिवर्तन दीख पड़ता है। स्टोइक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता, जगत् की उद्देश्य-सम्पन्नता आदि सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की है। उन्नीसवीं शताब्दी में पॉज़िटिविज़्म आदि अनेक दार्शनिक मतों पर चार्वाकता की छाप स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। परन्तु चार्वाकमत की तुलना एपिक्यूरिअनिज्म के साथ ही समुचित रीति से की जा सकती है।

चार्वाकों की निन्दा दार्शनिकों ने जी खोलकर शतमुख से की है। इस निन्दा के यथार्थ होने में सन्देह नहीं। पर इसका मूल आधार उनकी आचार-मीमांसा ही है। चार्वाकसम्मत आचार-शास्त्रीय तत्वों से समाज के विशेष अस्त-व्यस्त होने की सम्भावना है। जिस दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं, स्थूल भौतिक सुखवाद ही प्राणिमात्र के लिए परम पुरुषार्थ है, वह मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझा कर उनके लिए एक आदर्श-मार्ग की सृष्टि करेगा, यह आशा दुराशामात्र है। अतः चार्वाकमत में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, पर फिर भी

उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान न देना भी उसके साथ अन्याय करना है।

इस प्रसंग में यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि बार्हस्पत्य सूत्रों में उच्छृंखल जीवन का—ऋण लेकर घृतपान का—कहीं भी विधान नहीं मिलता। बृहस्पति विश्व की पहेली को समझाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन करने वाले विद्वान् थे। उनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप है। अवान्तर-कालीन दार्शनिकों ने इन लोकप्रिय उपदेशों को चार्वाक के मत्थे मढ़ कर उन्हें स्वार्थी भौतिक सुखवादी बतलाया है; परन्तु वास्तव में बात कुछ दूसरी ही थी।

चार्वाक ज्ञान-मीमांसा की प्रधान विशिष्टता है—आप्तवचनों में अन्ध श्रद्धा या विश्वास का न रखना। श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं है; सिद्धान्त की सृष्टि तो तर्क से होती है। सच्चा अविश्वास अन्ध-विश्वास की अपेक्षा दार्शनिक तत्वों की समीक्षा के लिए अधिक मूल्य रखता है। आप्तवाक्यों के व्यामोह से अपना उद्धार किए बिना तथा अपनी तर्क-प्रधान बुद्धि का सहारा लिए बिना दर्शन का अभ्युदय हो नहीं सकता। शुद्ध तर्क की उप-योगिता दिखला कर चार्वाकों ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग की सृष्टि की है।

इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने ऐहिक सुखमय जीवन के साधन भूत कला-कौशल की सृष्टि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य बृहस्पति ने अर्थशास्त्र लिख कर मनुष्यमात्र के लिए उच्छृंखलता का त्याग कर नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धति पर आग्रह दिखलाया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन की उन्नति समाज की उन्नति को छोड़कर कभी नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को समाज के अनुकूल बनावे। समाज का नियमानुकूल चलना संसार के

कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। चार्वाक लोग इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह—दण्ड तथा दया—करनेवाले राजा को ही ईश्वर मानते थे (निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः)। वे जानते थे कि दण्ड का भय न होने पर मनुष्य को पशुरूप में परिवर्तित होने में विलम्ब न लगेगा। इसी कारण चार्वाक उच्छृं-खल जीवन के पक्षपाती न थे; प्रत्युत नियमबद्ध सामाजिक जीवन को ही आदर्श मानते थे। अतः आधिभौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने मानव-जीवन को विशृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलाने वाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया। उनकी इस सेवा की ओर ध्यान देना हमारे लिए न्यायसंगत ही है।

गाँधीवाद बनाम समाजवाद

(श्री जयप्रकाशनारायण)

गाँधी जी ने अब तक ब्योरेवार और सीधे तौर पर यह नहीं बताया है कि उनके स्वराज्य के अन्दर समाज का निर्माण किस आधार पर होगा, वह कैसा होगा; इसलिए यह कहना मुश्किल है कि समाजवाद के बदले वे हमें क्या देने जा रहे हैं; लेकिन उनके कुछ वक्तव्य हैं, उनके कुछ लेख हैं, जिनसे इस सम्बन्ध में कुछ अन्दाज़ लगाया जा सकता है। उनके अनुयायियों की नज़र में ये चीजें समाजवाद की जगह एक नये ढंग के समाज का खाका हमारे सामने रखती हैं। वे तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि 'गाँधी-वाद ही हिन्दुस्तान के लिए सच्चा समाजवाद है।' गाँधी जी ने भी जब-तब 'स्वदेशी समाजवाद' या 'हिन्दूधर्म का मौलिक विचार', 'भारत की अपनी प्रतिभा' ऐसी शब्दावलियों का व्यवहार किया है। इसका मतलब यह होता है कि शायद उनकी यह धारणा है कि

उनका यह 'स्वदेशी समाजवाद' हिन्दुस्तान की जलवायु के लिए पाश्चात्य ढंग के समाजवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।

पहले हम यही विचार कर लें कि गाँधी जी समाज के निर्माण के बारे में जो विचार रखते हैं, क्या वे सच्ची 'स्वदेशी' और 'भारतीय' प्रतिभा का चमत्कार हैं? हमें तो ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। पाश्चात्य देशों के बहुतेरे लेखकों और विचारकों ने ठीक गाँधी जी के ढंग पर लिखा है और कहा है। उनकी तर्क-प्रणाली का मूलाधार एक है—हाँ, किसी ने किसी पर ज़ोर दिया है, किसी ने किसी पर। 'वर्ग-युद्ध' एक बेवकूफ़ी की बात है; पूँजी और मज़दूरी एक-दूसरे पर निर्भर और एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं; क्रान्ति तो ध्वंसात्मक है; समाज के द्वन्द्वात्मक वर्गों का समन्वय क्रान्ति की अपेक्षा कहीं अच्छा है; मुनाफ़ा, मज़दूरी और कीमत पर विचारपूर्ण नियंत्रण होना चाहिए; ज़मींदार और पूँजीपति धन और ज़मींदारी के ट्रस्टी हैं—ये बातें पाश्चात्य देशों के प्रोफ़ैसरों, विचारकों और धर्मोपदेशकों ने बार-बार दुहराई हैं। कुछ दिनों पहले इंग्लंड के सुप्रसिद्ध लेखक एच. जी. वेल्स और सोवियट रूस के डिक्टेटर स्टालिन में जो बातें हुई थीं, उनमें वेल्स ने स्टालिन के समक्ष यही दलीलें पेश की थीं, जो गाँधी जी हमारे यहाँ कहा करते हैं। उसने कहा था कि यह वर्ग-युद्ध बेवकूफ़ी और खुराफ़ातों से भरी हुई चीज़ है; पूँजीवाद का ख़ात्मा वर्गों के हितों के समन्वय से ही सिद्ध हो सकता है, ज़रूरत है, तो सही नेतृत्व की। गाँधी जी पूँजीपतियों के हृदय का परिवर्तन चाहते हैं; वेल्स साहब भी यही चाहते हैं।

स्वर्गीय रैमज़े मैकडानल्ड अपने समाजवादी दिनों में वर्ग-युद्ध के विरुद्ध थे। एक जगह उन्होंने लिखा है—"पूँजी और मज़दूरी दोनों को समाज की सेवा करनी है और समाज के नेताओं का यह कर्तव्य है कि वे इन दोनों में आज जो संघर्ष

है, उसको ख़त्म करने और उनमें समन्वय स्थापित करने के तरीके ढूँढें"। निःसन्देह अपने इस समाजवाद को मैकडानल्ड इंग्लैंड का 'स्वदेशी समाजवाद' कहते थे, लेकिन सभी स्वदेशी समाजवादियों की तरह इसकी क्या गति हुई, यह जग-ज़ाहिर है। मैकडानल्ड साहब ने कट्टर-पन्थियों और पूँजीपतियों के स्वार्थ में अपने समाजवाद को विलीन कर दिया।

'ज़मींदार और पूँजीपति ट्रस्टी हैं'—इस सिद्धान्त के शुद्ध भारतीय होने पर बहुत नाज़ किया जाता है और कहा जाता है कि हमारे देश की अहिंसा-नीति के यह बिल्कुल अनुकूल है; लेकिन विलियम गोडविन ने अपनी 'पोलीटिकल जस्टिस' नामक पुस्तक में इसका प्रयोग किया है। उसने लिखा है—"सभी धार्मिक सदाचारों का एक ही आधार है और वह है धन के संबन्ध में किया गया अन्याय; इसलिए सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने धनी चेलों से कहा है कि उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धन उनके पास है, उसके वे ट्रस्टी हैं; उसमें ख़र्च के एक-एक ज़र्रे के वे जवाबदेह हैं; उनका काम केवल व्यवस्था करना है; किसी भी हालत में वे उसके मालिक या प्रभु नहीं हैं।" देखिए, गोडविन आज से डेढ़ शताब्दी पहले हुए थे, अतः जो लोग गाँधी जी के इस सिद्धान्त को हिन्दुस्तान का शुद्ध स्वदेशी सिद्धान्त कह कर ख़ुश होते हैं, उन्हें इस तरह ख़ुश होने का कोई सबब नहीं है।

साफ़ बात यों है कि सुधारवाद और क्रान्तिवाद में शुरू स ही झगड़ा है। गाँधी जी के जो विचार हैं, वे सुधारवादी हैं—उसकी भाषा भले ही हिन्दुस्तानी हो, लेकिन उसका मूल तो अंतर्राष्ट्रीय है। सुधारवाद का सबसे मुख्य काम यह है कि वह समाज की प्रचलित व्यवस्था को क़ायम रखना चाहता है। उस व्यवस्था को ख़त्म करनेवाली शक्तियों को देखते ही वह चौकन्ना

हो जाता है और उन्हें नपुंसक बना देना या सदा के लिए चुप करा देना चाहता है। इस लिए वह सदा स्वार्थों के समन्वय के राग अलापा करता है। गाँधी जी ज़मींदारों और पूँजीपतियों से यही कहा करते हैं कि आप अपने किसानों और अपने मज़दूरों की हालत सुधारिए, उनसे अच्छा सम्बन्ध स्थापित कीजिए। बस, फिर न कहीं यह कम्बख़्त वर्ग-युद्ध रहेगा, न असन्तोष रहेगा, न विद्रोह रहेगा, न उखाड़-फेंक रहेगा। सुधारवाद का काम समाज में न्याय की स्थापना नहीं है। उसका काम है समाज में जो दरारें पड़ गई हैं उन्हें किसी तरह मूँद देना।

काँग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के बाद गाँधी जी से अवध के ताल्लुकेदारों ने भेंट की थी और समाजवादी पार्टी के ज़मींदारी, पूंजीशाही और व्यक्तिगत सम्पत्ति उठा देने के निर्णय पर सख्त नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए उनसे संरक्षण माँगा था। उस अवसर पर गाँधी जी ने जो कुछ कहा था, हम उसके कुछ उद्धरणों को ही देखें। उन्होंने कहा था—"मैं जिस रामराज्य का स्वप्न देखता हूं, उसमें राजाओं और भिखारियों—दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे"।

सच पूछिए तो गाँधी जी की 'सामाजिक फ़िलासफ़ी' का यही मूल-मन्त्र है। उनके स्वप्न के रामराज्य में राजाओं के साथ-साथ बेचारे भिखारी भी विद्यमान रहते हैं। इसमें शक नहीं कि गाँधी जी उन भिखारियों के हक़ की हिफ़ाज़त करना चाहते हैं; यद्यपि हमें यह भी नहीं बताते कि उन बेचारों के हक़ क्या होंगे और उन्हें लेकर वे अभागे क्या करेंगे। लेकिन सबसे मनोरञ्जक—नहीं-नहीं, हैरत में डाल देने वाली— बात तो यह है कि गाँधी जी के उस सपने के रामराज्य में भी कुछ लोग भिखारी बने ही रहेंगे!

'रामराज्य'—और 'भिखारी' और 'राजा' दोनों का! क्यों

नहीं ! भला भिखारी नहीं रहेंगे, तो ये 'उन्नत विचारवाले', 'उदार', 'दानी' अपनी आत्मा की महान् उदारता और सदाशयता का परिचय देकर किस तरह मानवी स्वभाव का हिन्दू आदर्श पेश करेंगे ?

भला समाज में कोई आदमी भिखारी क्यों रहे ? समाजवाद का यह मुख्य प्रश्न गाँधीजी के दिमाग़ में कभी उठा ही नहीं—उठ भी नहीं सकता, क्योंकि गाँधीजी की नीति के सफल होने के लिए यह अत्यावश्यक है कि समाज में कुछ लोग भिखारी रहें।

कुछ लोग कहते हैं, गाँधीवाद और समाजवाद में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का भेद है। यह बात ग़लत है। भेद है तो यह ऊपर का सवाल। समाजवाद आर्थिक असमानता के कारणों का अनुसन्धान करता है। राजाओं, ज़मींदारों, पूँजीपतियों और भिखारियों की उत्पत्ति के मूलाधारों की खोज-ढूँढ करता है और खोज-ढूँढ करता है मानवी शोषणों के रहस्यों की। इस खोज-ढूँढ और जाँच-पड़ताल के बाद जब समाजवादी उसकी जड़ का पता लगा लेता है, तो उसे उखाड़ फेंकता है; वह सामाजिक बुराइयों के मूल पर ही कुठाराघात करता है।

लेकिन गाँधीवाद इन प्रश्नों पर विचार करना भी ज़रूरी नहीं समझता। उसके मन में तो यह सवाल भी नहीं उठता कि क्या बात है कि मुट्ठी भर लोग राजा, ज़मींदार और पूँजीवादी बन कर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और बाकी पूरा समाज या तो भिखारी बन चुका या बनने की तैयारी में है ? वह समाज की नीची और ऊँची सतह को स्थायी मान लेता है और फ़कत यही चाहता है कि ऊपर की सतह के लोग नीची सतह के लोगों से ज़रा रहम का बर्ताव रक्खें। उसमें यह हिम्मत नहीं होती कि वह इसकी जाँच करे कि ज़मींदारों और पूँजीपतियों का यह धन आता कहाँ से है ? वह इतना ही कह कर सन्तोष कर लेता है कि 'भाई, अपने को इन

ग़रीबों का ट्रस्टी समझो और धन का उपयोग इनके हित में ही करो'।

एक समाजवादी के लिए यह फ़िलासफ़ी धोखेबाज़ी है—धोखेबाज़ी अपने प्रति और शोषित जनता के प्रति। हम समाजवादी डंके की चोट यह कहते हैं कि ज़मींदारों और पूँजीपतियों का यह धन किसानों और मज़दूरों की मेहनत से ही पैदा हुआ है, इसलिए प्राउधन के कथनानुसार 'चोरी का माल' है। इस चोरी को छिपाना, इसे बे-पूछे-ताछे चलने देना,—नहीं, इस पर पवित्रता की पुट देना तो निःसन्देह धोखेबाज़ी है, भले ही यह धोखेबाज़ी आप अनजाने ही क्यों न कर रहे हों।

ये ऊँची सतह के लोग केवल चोरी के ही अपराधी नहीं हैं, ये तो हिंसा के भी अपराधी हैं, क्योंकि इस चोरी के माल को वे हिंसा के बल पर ही अपने क़ब्ज़े में लिये हुए हैं। अगर संगठित हिंसा का और उसको सही साबित करनेवाले वर्गगत कानून का भय न हो, तो किसान और मज़दूर कल ही ज़मीन और कारख़ानों पर कब्ज़ा कर लें।

राजाओं, ज़मींदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों पर चूँ-चराँ न करके गाँधीजी ने इस बड़े पैमाने पर और संगठित रूप में होनेवाली चोरी और हिंसा पर चुप-चाप मोहर लगा दी है। चुप-चाप ही नहीं, उन्होंने तो खुले-आम और ऐलानिया तौर पर इसको मान लिया है। उन्होंने तो अवध के ज़मींदारों से साफ़-साफ़ कह दिया है कि यदि कोई उन ज़मींदारों की सम्पत्ति को लेना चाहेगा, तो वह (गाँधीजी) खुद लड़ेंगे। और इसके कुछ दिन पहले ही उन्होंने अहमदाबाद के पूँजीपतियों से कह दिया था कि उन्हें अधिकार है कि वे धन इकट्ठा करें। गाँधीजी ने इन धनियों से यह भी कहा कि वे इस धन को किसानों और मज़दूरों के ट्रस्टी की हैसियत से ही रक्खें· इस धन में उनका

बराबर का हिस्सा है। इस धन को वे गरीबों के हित के लिए ही खर्च करें और वे उन्हें एक परिवार के सदस्यों की तरह ही मानें। यही गाँधी जी का शुद्ध स्वदेशी समाजवाद है, जिसमें मजदूरों और पूँजीपतियों, ज़मींदारों और किसानों में हार्दिक सहयोग होगा।

थोड़े ही ग़ौर से देखने पर इस कथन की अस्पष्टता और परस्पर विरोध प्रकट हो जाता है। मान लीजिए कि ज़मींदार 'ट्रस्टी' है। अब सवाल यह उठता है कि धन के किस हिस्से को वह ट्रस्ट समझ—समूचे को या किसी हिस्से को। अगर किसी हिस्से को, तो वह हिस्सा क्या हो और उसे कौन निश्चय करेगा? अगर उसका किसान उसके धन का बराबर का हिस्सेदार है, तो इस बराबर के ठीक मानी क्या हैं? क्या इसका मतलब यह है कि धन का आधा हिस्सा ज़मींदारों का है और आधा किसानों का? या इसका मतलब यह है कि ज़मींदार और किसान दोनों ही मिल कर बराबर-बराबर के हिस्सेदार हैं? फिर कोई हिस्सेदार 'ट्रस्टी' किस तरह हो सकता है? 'एक ही परिवार के व्यक्ति' का क्या मतलब? क्या इसका मतलब यह हुआ कि किसानों का यह हक़ है कि वे ज़मींदारों के महलों में डेरा डालें और उनकी चमकती सवारियों पर शहर की सैर करें? 'हार्दिक सहयोग' का ही क्या मतलब? यह सहयोग कौन लायगा?

ये सवाल ऐसे नहीं हैं कि इन्हें यों हल्के-हल्के 'नज़र-अन्दाज़' कर सकें। फिर, और भी वज़नदार और अहम सवाल हैं।

क्या किसानों और मज़दूरों का धन पर उतना ही अधिकार है, जितना कि उनके मालिकों का। गाँधीजी के पास इसको मान लेने का कौन-सा प्रमाण है। यदि यह कहा जाय कि किसानों और मज़दूरों का बराबर हिस्सा इसलिए है कि वे ही धन पैदा करने वाले हैं, तब वे अपनी पैदा की गई चीज़ को

दूसरों के हाथ में क्यों सौंप दें ? क्यों उनसे कहा जाय कि इन्हें दूसरों के हाथ में सौंप दो, जो तुम्हारे लिए ट्रस्टी का काम करेंगे। क्या इसलिए कि जिसमें ये बड़े लोग अपनी उदारता का विपुल प्रदर्शन करते फिरें ?

हम इस सवाल को दूसरे छोर से ही लें। ये धनी लोग ही ट्रस्टी का काम क्या करें ? वे ऐसा क्यों न कहें कि यह धन तो हमारा है, इसे हमने अपने दिमाग़ और अपनी पूँजी से पैदा किया है, और किसी को इस पर दावा करने का दम नहीं है। यदि धनियों का धन उनका अपना नहीं है, तो यह कौनसा न्याय है कि उन्हें उसे रखने और उसके बल पर उदारता दिखाने के लिए उत्साहित किया जाय ? और अगर यह उनका सही तरीके से अर्जित धन है, तो फिर किसी को क्या हक़ है कि कहे कि इसे तुम दूसरे को दे दो ? अगर ग़रीब भूखों मरते हैं, तो मरने दीजिए। इसमें धनी बेचारों का क्या कसूर ?

इस तरह यदि हम ब्योरेवार देखते हैं, तो गाँधीवाद कायरतापूर्ण आर्थिक विश्लेषण, शुभ और महान् सदिच्छाओं और प्रभावशून्य नैतिकता की एक खिचड़ी मात्र है।

उपाय केवल दो ही हैं। या तो मान लीजिए कि धनियों का यह धन अन्याय से उपार्जित है और तब उनसे मनमाना वसूल कीजिए; या मान लीजिए कि उन्होंने न्यायपूर्वक उसे उपार्जित किया है, इसलिए भले मानस की तरह चुप्पी मारकर बैठिए। इसका तो कोई मतलब नहीं होता कि आप ग़रीबों को फ़क़त यह जताने के लिए कि मैं तुम्हारी सुध भूला नहीं हूँ, चिकनी-चुपड़ी उदारता की बातें कहा करें।

सवाल नैतिकता या सदाचार का नहीं है; यह समस्या तो धन और उसके उत्पादन के वैज्ञानिक विश्लेषण की है। इस समस्या का हमें साहस से सामना करना चाहिए, न कि भावुकता के बुर्के

में उसे ढँक देना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी धन का विश्लेषण कर और यह साबित करके कि धन कमाने के लिए मज़दूरों का शोषण आवश्यक हो जाता है, मानवता का महान् उपकार किया है। पूँजीपतियों के टुकड़ों पर पलनेवाले प्रोफ़ैसर उसे इस अपराध के लिए आज तक भी क्षमा नहीं कर सके हैं।

एक बात और रह जाती है। इस ट्रस्टी के सिद्धान्त को आख़िर काम में किस तरह लाया जायगा? गाँधी जी धनियों को ग़रीबों के ट्रस्टी बनने के लिए किस तरह प्रभावित करेंगे? क्या उनकी नैतिकता को अपील करके, उनके दिलों के अन्दर पहुँच कर? उन्होंने उन ज़मींदारों से कहा कि "मैं चाहता हूँ कि मैं आपके दिलों में समाऊँ और उन्हें परिवर्तित करूँ, जिससे आप यह अनुभव कर सकें कि वास्तव में यह धन आपकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, वरन् किसानों का ट्रस्ट है और आप उन्हीं की भलाई में इसको खर्च करेंगे।"

हमें शक है, हमारे कुछ भाई इसे भी भारतीय संस्कृति की देन समझेंगे। लेकिन सचाई यह है कि दुनिया के सभी बड़े धार्मिक उपदेशकों ने इसी तरीके का इस्तेमाल किया था। उन उपदेशकों को इसमें कितनी सफलता मिली, इसका साक्षी इतिहास है। अब गाँधीजी अपनी जादू की छड़ी लेकर आये हैं, और एक नया इन्द्रजाल हमें दिखाना चाह रहे हैं।

मुझे मालूम नहीं कि उन ज़मींदारों के दिलों को गाँधीजी की बात बदल सकी या नहीं। ये ज़मींदार बड़े लाट और छोटे लाटों से भी इसी तरह मिलते और गिड़गिड़ाते रहे हैं। हाँ, यह तो साफ़ ही है कि गाँधीजी की बातचीत से उन्हें तसल्ली ज़रूर हुई होगी और उनमें से कुछ तो गाँधीवाद के कट्टर समर्थक बन गये हैं। गाँधीवादी बनने में उन्हें लगता ही क्या है? बस, मौके-बेमौके चन्दा दे देना, जिसकी रकम भी उन्हें वापस मिल

ही जाती है। अखबारों में उनकी तारीफें और तसवीरें निकलती हैं और इस प्रशंसा का प्रयोग वे अपनी व्यापारिक तरक्की के लिए करते हैं।

गाँधीजी ने उस मुलाकात में यह भी कहा है कि उन्होंने पूजीपतियों से भी कहा है कि वे ऐसा सदा अनुभव करें कि ये मिलें केवल उनकी नहीं हैं, वरन् मज़दूरों के भी इनमें हिस्से हैं। अफ़सोस की बात यह है कि हमें इसका पता नहीं कि गाँधीजी को इस दिशा में सफलता मिली है या नहीं। गाँधीजी का सम्बन्ध अहमदाबाद के मज़दूर-संघ से भी है। क्या वह या उनके कोई अनुयायी हमें बतायेंगे कि संघ और मिल-मालिकों के संघर्ष के दरम्यान इस तरह के हृदय-परिवर्तन का कोई लक्षण दीख पड़ा है? क्या यह ठीक नहीं है कि ये मिल-मालिक जब कभी झुके हैं, तो संघ की शक्ति के डर से, आम हड़ताल के डर से? गाँधीजी के समझौतों को तो उन्होंने बार-बार तोड़ा है, यद्यपि उन समझौतों की शर्तें ऐसी कभी न रही हैं कि मिल-मालिकों को कोई यथार्थ त्याग करना पड़े।

प्रजातंत्र शासन का विकास तथा उसके मूल सिद्धांत

(श्री कृष्णाचन्द्र विद्यालङ्कार)

प्रजातन्त्र आज के युग में सर्वोत्तम शासन-पद्धति स्वीकार की जाती है। आज से कुछ समय पहले ऐसा न था। प्राचीन भारत और प्राचीन ग्रीस में भले ही प्रजातन्त्र के उदाहरण पाये जाते हों, लेकिन उसके बाद प्रजातन्त्र का सिद्धान्त प्रचलन में न रहा। साधारणतः सब देशों में राजतन्त्र या एकतंत्र की पद्धति ही प्रचलित रही। राजतंत्र के मूल में यह भावना काम

करती है कि देश राजा की सम्पत्ति है। वही देश की समस्त सम्पत्ति और प्रजा का स्वामी है। उसे कानून बनाने और प्रजा का शासन करने का अधिकार है। मध्यकाल में तो यहाँ तक कहा जाने लगा था कि उसका यह अधिकार परमात्मा द्वारा प्रदत्त है। इंगलैण्ड के राजा जेम्स ने सिंहासन पर बैठने से पूर्व लिखा था कि 'राजा ईश्वरीय अधिकार से राज्य करते हैं। प्रजा को उसके विरुद्ध चूँ करने का भी अधिकार नहीं। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि और प्रतिबिम्ब है, इसलिए उसके विरुद्ध विद्रोह करना पाप है।' १६वीं सदी के प्रारम्भ तक भी यह सिद्धान्त ज़ोरों पर था। सन् १८१५ में रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया के सम्राटों ने अपने एक सन्धिपत्र में ईश्वरीय अधिकार की घोषणा करते हुए लिखा था कि "हमें ईश्वर ने लोगों पर शासन करने के लिए प्रतिनिधि के रूप में भेजा है।" भारतवर्ष तथा अन्य एशियाई देशों में भी यही परम्परा काम कर रही थी। इस पद्धति में राजा कोई भी कानून बना सकता है, किसी दूसरे राज्य के साथ सन्धि या युद्ध कर सकता है, अपना देश किसी दूसरे के हवाले कर सकता है।

लेकिन समय बदला। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि या देवता मानने की भावना भी बदली। १८ वीं सदी के तीसरे दशक में फ्राँस में एक महान् क्रांति हुई। राजा को खत्म कर दिया गया। रूसो प्रभृति क्रान्ति के नेताओं ने जनता को यह सन्देश दिया कि राज्य राजा और प्रजा के बीच में एक समझौते का परिणाम मात्र है। प्रजा राष्ट्र की स्वामिनी है। उसने सिर्फ राज्य का प्रबन्ध राजा या सरकार को सौंपा है, और वह भी इस शर्त पर कि हम तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे, तुम्हें सरकार का खर्च चलाने के लिए टैक्स भी देंगे और इसके बदले में तुम दुःखों और आन्तरिक या बाह्य सब शत्रुओं से हमारी रक्षा

करोगे। इंगलैण्ड में १७वीं सदी में राजा के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो चुका था और चार्ल्स का वध करके वहाँ प्रजातंत्र की स्थापना कर दी गई थी। यद्यपि यह प्रजातंत्र कुछ ही वर्ष रहा, तथापि इसने इंगलैण्ड में यह भावना उत्पन्न कर दी थी कि राजा प्रजा की अनुमति के बिना न टैक्स लगा सकता है और न कोई क़ानून बना सकता है। इंगलैण्ड में यह भावना बहुत पहले पनप चुकी थी, लेकिन योरुप के दूसरे देशों में फ्रांस की क्रान्ति के बाद फैली। इस क्रान्ति से कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके स्वाधीनता की घोषणा कर चुका था और उसने इस सिद्धांत को ज़ोरों से प्रतिपादन किया था कि राज्य में बिना प्रतिनिधित्व के हम टैक्स नहीं देंगे। प्रजातंत्र या लोकतंत्र के मूल में यही भावना है। समय की गति के साथ-साथ विभिन्न राष्ट्रों में राजतंत्र का स्थान प्रजातंत्र लेता गया। १६१४ के महायुद्ध के बाद जर्मनी का कैसर ही समाप्त नहीं हुआ, अन्य भी अनेक देशों के राजा अपनी गद्दी से च्युत कर दिये गये।

पिछले युद्ध से कुछ समय पूर्व, १६१२ में, नवचीन के निर्माता डा० सनयात सेन ने क्रांति करके वहां प्रजातंत्र की स्थापना की थी। १६१७ में रूस के ज़ार निकोलस की हत्या की गई और वहाँ प्रजातंत्र कायम हो गया। जर्मनी के कैसर विलियम द्वितीय १६१७ में जब भाग गये तब वहाँ भी प्रजातंत्र की स्थापना हो गई। १६२२ ई० में टर्की के सुलतान कमालपाशा से परास्त हुए और वहां प्रजातंत्र की स्थापना हुई। १६३१ में स्पेन के राजा अलफ़ैंसो को गद्दी छोड़ कर भागना पड़ा। इस युद्ध का रहे-सहे राजतंत्री देशों पर बुरा प्रभाव पड़ा है। यूगोस्लेविया और ग्रीस में भी राजतंत्र समाप्त हो चुका है। इटली में जनता ने राजतंत्र के विरुद्ध बहुमत देकर प्रजातंत्र की स्थापना

का निश्चय कर लिया है। जिन देशों में आज तक प्रजातन्त्र क़ायम नहीं हुआ है, वहाँ भी निकट भविष्य में राजाओं की समाप्ति की संभावना की जाने लगी है।

वस्तुतः आज राजतंत्र का युग नहीं रहा। प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ राष्ट्रों में अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप) या एकतंत्र की लहर चली थी। इटली, जर्मनी, जापान, स्पेन तथा रूस में किसी-न-किसी रूप में अधिनायकवाद प्रचलित था। इटली में मुसोलिनी ने १९२२ में और जर्मनी में हिटलर ने १९३३ में समस्त शासन-सूत्र जनता से अपने हाथ में ले लिये। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक नित्शे ने लोगों के सामने यह विचारधारा बड़े ज़ोरों से रक्खी थी कि 'धर्म, समाज, सदाचार, नीति आदि के बन्धन साधारण मनुष्यों के लिए हैं। जो उत्कृष्ट कोटि के लोग हैं, वे इनकी परवाह नहीं करते। वे अपने सहज गुणों के ज़ोर से इन दुर्बल रस्सियों को तोड़कर ऊपर उठ जाते हैं। जिसमें ऐसा व्यक्तित्व हो, राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि उसको विकास की सुविधाएँ दे। ऐसा मनुष्य महापुरुष है। छोटे मनुष्य झख मारेंगे और उसकी आज्ञा पर चलेंगे। वह जो कहेगा, वही नीति होगी, वही आचार होगा, वही कानून होगा'। नित्शे की इस विचारधारा का परिणाम जर्मनी पर पड़ा और जर्मन लोगों ने जब अपने एक नेता में कुछ असाधारण कार्य-क्षमता देखी, तो उसके नीचे एक सुशील आज्ञापालक की तरह चलने में संकोच नहीं किया। इटली और जर्मनी में अधिनायकवाद के प्रचलित होने के कुछ कारण और भी थे।

प्रथम महायुद्ध के विजेताओं में होता हुआ भी इटली असन्तुष्ट था। लूट का माल दूसरों के हाथ लगा। इटली में लोगों की आर्थिक दशा बिगड़ गई। आत्म-विश्वास उठ गया। अशान्ति फैल गई। देश में बीसियों छोटे-बड़े राजनीतिक दल बन गये। नेश-

नलिस्ट, बोलशेविस्ट आदि क्रान्तिकारी दलों की आतंकवादी हलचलों और हड़तालों से अव्यवस्था और भी बढ़ गई। सरकार स्थिति सभाल न सकी। ऐसी दशा में मुसोलिनी ने फ़ासिस्ट पार्टी का संगठन किया। फ़ासिस्ट एक तरह के आतंकवादी थे। इनके बल पर मुसोलिनी एक दृढ़ और निश्चित नीति लेकर सामने आया। उसके पास हज़ारों नौजवान स्वयंसेवक थे। २७ अक्टूबर, १९२२ को वह उनके साथ रोम पहुँचा। उसने लोगों को एक ओर जहाँ भविष्य के सुनहले स्वप्न दिखाये, वहाँ दूसरी ओर अनु-शासन-हीनता के लिए दंड का भय भी दिखाया। इटली की जनता ने उसके आगे घुटने टेक दिये। उसके दृढ़ शासन में इटली शक्तिशाली राष्ट्र बन गया।

जर्मनी भी पराजित होकर तबाह हो चुका था। उसकी शक्ति क्षीण हो गई थी। उपनिवेश छिन गये थे। आर्थिक संकट मुँह बाये खड़ा था। लोगों के आत्माभिमान को गहरी ठेस लगी थी। योरुप के विजयी राष्ट्रों ने उसे युद्ध के लिए ज़िम्मेवार ठहरा कर उस पर हर्जाने की भारी रकम लाद दी। वर्सेल्ज़ की सन्धि की कठोर शर्तों के कारण वह लगातार कुचला जा रहा था। पराजित, निराश और नष्टप्राय जर्मनी ने देखा कि इटली अधिनायकवाद के सहारे उन्नति कर रहा है। हिटलर ने भी मुसोलिनी की भान्ति एक ओर जर्मनी को फिर उन्नत राष्ट्र बनाने का आश्वासन दिया, दूसरी ओर दृढ़ता, अनुशासन और दंडनीति का भी आश्रय लिया। उसने जर्मन जनता को बतलाया कि उसके दिखाये मार्ग पर चलने से वह समस्त संकट से मुक्त हो जायगी। जर्मन जनता इटली में एकनेतृत्व का सुफल देख चुकी थी। उसने भी हिटलर के नेतृत्व को शान्ति और भय के साथ स्वीकार किया। एक-नेतृत्व, एक-अनुशासन, एक-नीति और दृढ़ संकल्प के कारण जर्मनी उन्नति करता गया।

इस अधिनायकवाद के मूल में राज्य और उसके प्रतीक सरकार या एक प्रमुख नेता के प्रति अगाध श्रद्धा आवश्यक है। इस वाद में राष्ट्र की उन्नति चरम उद्देश्य है, व्यक्ति की उन्नति उसके साधन के रूप में होनी चाहिए। राष्ट्र की उन्नति के आगे वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को तुच्छ मानता है। इसके अनुसार नागरिक को राज्य के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा। उसका जो कुछ है, वह राज्य का है। राज्य के सुख में उसका सुख है और राज्य के दुःख में उसका दुःख है। वह राज्य के लिए ही जीता और मरता है। राज्य के प्रति यह अगाध श्रद्धा ही बाद में सरकार के प्रति अगाध श्रद्धा में बदल जाती है, क्योंकि वही राज्य का मूर्त चिन्ह है। सरकार की आलोचना या विरोध का फिर कोई स्थान ही नहीं रहता। इसलिए जनता सरकारी कामों में दखल नहीं दे सकती। यह स्थिति जब आगे बढ़ती है, तब सरकार पार्लमेंट या प्रतिनिधि-सभा में भी जन-प्रतिनिधियों की आलोचना सहन नहीं करती। राज्य को सब शक्तियों और अधिकारों का केन्द्र मान लेने पर राज्य का सर्वोच्च शासक स्वभावतः दुर्धर्षशक्ति बन जाता है। जनता अपने को राज्य से हीन मानने लगती है और प्रजातंत्र की यह मूल भावना कि वह स्वयं राज्य की स्वामिनी सत्ता है, नष्ट हो जाती है। समस्त शक्ति एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जाती है। निरंकुश राजतंत्र और एकतंत्र या अधिनायकवाद में सिर्फ एक अन्तर होता है। निरंकुश राजतंत्र में सर्वोच्च सत्ता विरासत की—वंशपरम्परा की—वस्तु होती है और एकतंत्र में जनता द्वारा चुने गये एक नेता में सारी शक्ति निहित हो जाती है।

जर्मनी का प्रथम महायुद्ध के बाद बना प्रजातन्त्र-विधान ताक पर रख दिया गया। सब शक्तियाँ और सत्ता ज़र्मनी के फ्यूहरर (नेता) हर हिटलर में केन्द्रित हो गई। प्रैज़िडेंट और प्रधान-मन्त्री दोनों पद उसने सँभाल लिये। कोई नया कानून

बनाना हो, किसी घरेलू या विदेशी समस्या का हल करना हो, उसी की इच्छा अन्तिम निर्णायक थी। वही मंत्रियों और सहकारियों को नियत करता था और अपना उत्तराधिकारी भी नियुक्त कर सकता था। और सभी राजनीतिक दल तो तोड़ दिये गये थे, सरकारी नीति की कोई भी आलोचना न कर सकता था। केवल हिटलर की अपनी नाज़ी पार्टी कायम रही। जर्मन पार्लमेंट-रीशस्टैग-विद्यमान रही, पर उसे कोई अधिकार न था। नाज़ी पार्टी का नेता भी हिटलर था।

इटली में भी यही कुछ हो रहा था। वहाँ राजा था, पार्लमैंट थी, लेकिन सम्पूर्ण शासन-सत्ता केवल फ़ासिस्ट पार्टी और अन्ततोगत्वा उसके प्रधान संचालक मुसोलिनी के हाथ में थी। उसने सब राजनीतिक पार्टियों को भंग कर देश को विविध पेशों के निर्वाचक दलों—कारपोरेशनों—में बदल दिया और उन पर अपना कठोर नियंत्रण जारी रखा।

इटली और जर्मनी ने, इसमें सन्देह नहीं कि, अधिनायक शासन में भौतिक उन्नति बहुत की। दोनों ही कुछ बरसों में शक्तिशाली राष्ट्र बन गये। इसका प्रभाव दूसरे राष्ट्रों पर भी पड़ा। स्पेन में फ्रैंको का शासन डिक्टेटरशिप का ही एक रूप है। स्वयं रूस में स्टालिन के हाथ में जो अपरिमित सत्ता है, उसे किसी भी तरह प्रजातन्त्री नहीं कहा जा सकता। जर्मनी और इटली की भाँति वहाँ भी केवल एक कम्यूनिस्ट पार्टी है, दूसरी किसी पार्टी का संगठन नहीं हो सकता। कोई सरकार की नीति की आलोचना नहीं कर सकता। यद्यपि रूस के नेता अपने को समाजवादी मानते हैं, लेकिन वास्तव में शासन-चक्र में वहाँ भी अधिनायकवाद है।

पिछले युद्ध की असाधारण परिस्थितियों में अनेक देशों की सरकारों ने अपने लिए असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिये

थे। ये अधिकार प्रजातन्त्र के आदर्श के तो विपरीत थे, किन्तु युद्ध की असाधारण परिस्थितियों में इनके सिवाय कोई दूसरा चारा भी न था।

यह युद्ध समाप्त होने पर विजेता राष्ट्रों ने जो घोषणाए की हैं, उन सब में सब राष्ट्रों में प्रजातन्त्र प्रचलित करने के वायदे किये गये हैं। प्रजातन्त्र के रूप पर कुछ विचार हम पहले कर आये हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रैज़िडैंट अब्राहम-लिंकन ने प्रजातन्त्र का अर्थ यह किया था—'जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता पर शासन।' इंगलैंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'मिल' के शब्दों में "सब लोग या लोगों का अधिकांश भाग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा जिस देश में शासन करता है, उसे लोकतन्त्र शासन कहते हैं।"

प्रजातन्त्र शासन का मुख्य आधारभूत सिद्धांत यह है कि कानून बनाने का अधिकार प्रजा के प्रतिनिधियों को हो और शासक (मंत्रिमंडल) अपने कार्यों के लिए इन प्रतिनिधियों की सभा (पार्लमैंट) के सामने जिम्मेवार हो। अमेरिका में शासक (प्रैज़िडैंट) उन्हें चुननेवाली जनता के सम्मुख जिम्मेवार है। दोनों हालतों में सरकार को उसी क्षण तक अपने पदों पर रहना चाहिए, जब तक पार्लमेंट या प्रजा उनसे सहमत हो। वस्तुतः शासक-वर्ग पर प्रजा का सीधे या प्रतिनिधियों द्वारा पूर्ण नियंत्रण ही उत्तरदायी शासन या प्रजातन्त्र शासन की कुंजी है। शासकों पर पूर्ण नियंत्रण का सर्वोत्तम और सरलतम मार्ग यह है कि प्रतिनिधि-सभा सरकार के समस्त आय-व्यय पर पूरा काबू रक्खे और उसकी सम्मति के बिना सरकार एक भी पैसा खर्च न कर सके। शासन-नीति का निर्धारण और कानूनों का निर्माण भी जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए।

प्रजातन्त्र का दूसरा मुख्य आधार है—प्रजा को दो या

अधिक पार्टियों में से अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार हो। यह अधिकार तभी अक्षुण्ण बना रह सकता है, जब कि विभिन्न विचारों और नीतियों के प्रतिनिधियों को अपना संगठन करने, भाषण देने और लिखने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। उन पर किसी प्रकार का बन्धन न हो। उन्हें बिना कानूनी कार्रवाई और अदालती फ़ैसले के कोई दंड न दिया जा सके। चुनाव के लिए यह भी आवश्यक है कि जब दो या अधिक पार्टियाँ हों तो वे सब अपने-अपने विचारों का प्रचार करने में स्वतन्त्र हों।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, सच्चे प्रजातन्त्र के लिए यह भी आवश्यक है कि बिना किसी धर्म, लिंग, संपत्ति या शिक्षा के लिहाज़ के, प्रत्येक वयस्क को अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन का अधिकार होना चाहिए। लेकिन इसी के साथ एक दूसरी शर्त भी है कि मत लेने का तरीका गुप्त होना चाहिए। यदि मत लेने का तरीका गुप्त न हुआ, तो सम्पन्न या शक्तिशाली लोग अपने मातहत या निर्बल नागरिकों पर नाजायज़ दबाव डाल कर उनकी इच्छा के विरुद्ध भी किसी एक विशिष्ट व्यक्ति को ही मत देने के लिए विवश कर सकेंगे। तब प्रतिनिधि-शासन का कोई अर्थ ही नहीं होगा। अभी तक भी अनेक देशों में मताधिकार के लिए साम्पत्तिक या शिक्षा-सम्बन्धी शर्तें लगा कर मताधिकार को संकुचित किया हुआ है। यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जिस-जिस देश में जितनी ऊंची शर्तें हैं, उतना ही वहाँ कम प्रजातन्त्र है।

आजकल बहुत से देशों में प्रजातन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र का जो स्वरूप विद्यमान है, बहुत-से विचारकों की सम्मति में वह शुद्ध प्रजातन्त्र नहीं है। आर्थिक और सामाजिक स्थिति से सत्ताशाली बड़े-बड़े पूँजीपति और ज़मींदार अपने संगठन या स्थिति के बल से चुनावों में जीत जाते हैं और वस्तुतः साधा-

रण जनता का उसमें कोई भाग नहीं हो पाता। बड़े-बड़े पूँजीपति अपने संगठनों और अखबारों द्वारा साधारण जनता का लोकमत बनाया या बिगाड़ा करते । अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए वे देशों में परस्पर युद्ध तक करा देते । ऐसी स्थिति में प्रजातन्त्र को शुद्ध प्रजातन्त्र कहने में बहुत संकोच किया जाता है। कार्ल मार्क्स की सम्मति में शुद्ध प्रजातन्त्र तभी चल सकता है, जब एक वर्गहीन समाज हो।

हमारे जानवर

(श्री कुँवर सुरेशसिंह)

जीव के जन्म और विकास की बड़ी अद्भुत और रोचक कहानी है। पर उसकी रोचकता के बारे में कुछ भी जानने के लिए हमें सौ-दो-सौ नहीं, लाख-दो लाख भी नहीं, बल्कि करोड़ों-अरबों वर्ष पहले की कल्पना करनी होगी।

इस विशाल अन्तरिक्ष में अविराम गति से घूमते हुए एक ज्वलित नीहार ने घनीभूत होकर, जब हमारी पृथ्वी का स्वरूप ग्रहण किया होगा, तब उस समय उसकी दशा एक जलती हुई अंगीठी की-सी रही होगी। उसकी सतह पर ज्वालामुखी के लावे की तरह गला हुआ पदार्थ बहता रहा होगा, जो धीरे-धीरे ठंडा होकर कड़ा पड़ गया होगा। पृथ्वी की प्रचंड गरमी के कारण तब पानी केवल भाप के बादलों के रूप में रहा होगा और चट्टान भी पृथ्वी के गर्भ में गले हुए लावे की शकल में रहे होंगे। कसा दृश्य रहा होगा वह ! सारी पृथ्वी एक गंधक के लोक की तरह धुएँ और भाप की विकराल लपटें छोड़ती हुई सुलगती रही होगी।

करोड़ों वर्ष बीत जाने पर, आग और भाप का वह रंगमंच, धीरे-धीरे ठंडा होकर हमारी पृथ्वी के रूप में जड़ीभूत हो सका

और तब आकाश में छाये हुए भाप के सघन बादल, पानी की पहली बौछार होकर बरसे। जले हुए लावा-जैसे पदार्थ ने जम कर चट्टानों का आकार ग्रहण किया और पृथ्वी पर गरम पानी की धाराएँ बह कर, नदियों और सागरों में इकट्ठा होने लगीं। सूरज और चाँद एक-दूसरे से और भी दूर चले गये और चाँद छोटा होने के कारण जल्द ठंडा पड़ने लगा।

कैसी रोचक सारी-की-सारी कल्पना है! इसके उपरान्त कहीं जाकर वह अवस्था आई, जब हमारी पृथ्वी अपने इस वर्तमान शकल-सूरत से मिलती-जुलती बन सकी। उस समय यदि किसी मनुष्य का होना सम्भव होता तो वह अपने आपको विशाल तप्त चट्टानों और लावा की शिलाओं के बीच खड़ा पाता। मिट्टी का उसे कहीं चिह्न भी न मिलता। हाँ, भयंकर अग्निवृष्टि के बीच, चारों ओर गँदले गरम पानी के नाले, उसे समुद्र की ओर भागते हुए ज़रूर दीख पड़ते और प्रचण्ड भूकम्प रह-रह कर उसके पैरों की नीचे की चट्टानों को कँपाता रहता। कैसा भयानक समय रहा होगा वह!

इस कल्पनातीत काल में पृथ्वी धीरे-धीरे पुरानी होने लगी। लाखों के बाद करोड़ों वर्ष बीत गये। सूरज दूर होकर मन्द पड़ गया। चाँद की चाल में भी शिथिलता आ गई। आँधी-पानी और तूफ़ानों की तेज़ी में कमी होने लगी। पानी बह-बह कर सागरों में जमा होने लगा। सागर महासागर बन गए और हमारी पृथ्वी की रूप-रेखा धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी। लेकिन 'जीवन' का अब भी कोई चिन्ह नहीं था—उसके जन्म में अभी बहुत देर थी।

पृथ्वी इस अवस्था में भी करोड़ों वर्ष रही। उसके बाद कहीं जाकर एक समय ऐसा आ ही गया, जब एक ख़ास तापमान में जीवपंक या प्रोटोप्लाज्म नामक पदार्थ से, हमारी पृथ्वी के छिछले समुद्रों में, एक बहुत निम्न-तर जीव का जन्म हुआ। और तब से

आज तक उसका इतना विकास और विस्तार हुआ है कि आज हमारी पृथ्वी असंख्य जीवधारियों से भर-सी गई है। यह प्रोटोप्लाज्म या जीवपंक उस खास तापमान में हमारी पृथ्वी पर ही उत्पन्न हुआ या दूसरे ग्रहों से यहाँ आया, यह अभी विवाद में पड़ा है, पर इतना तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि हम सब जीवधारियों का प्रारम्भ इसी जीवपंक से हुआ।

जीवन-अभिनय की यवनिका उठने के बाद, जल-वायु के अनुकूल होने पर, जीवों में भिन्न-भिन्न प्रकार का विकास होने लगा और परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ गई कि कुछ प्रधान जीवधारी सदा के लिए लोप हो गये। इस प्रकार के प्रलयकाल को विद्वानों ने अलग-अलग युगों में विभक्त कर दिया है, जिनकी अवस्था करोड़ों वर्ष की मानी गई है।

पहले के ऐसे कुछ युगों को हम छोड़ भी द, तो इस वर्तमान स्तनप्राणियों के युग के पहले के सरीसृपों के युग का संक्षप में वर्णन कर देना अनुचित न होगा। इस युग में—जिसे हम नव-जीवन युग कहते हैं और जिसका समय हम लगभग ८० करोड़ वर्ष का लगाते हैं—सरीसृपों का राज्य था। ये जीव आकार में इतने बड़े थे कि पृथ्वी पर इतने बड़े और भीमकाय जन्तु पहले कभी नहीं हुए। कुछ की लम्बाई तो ८० से १०० फुट तक पहुँच गई। डाइनासोर की आकृति तो भयंकरता की सीमा को भी पार कर गई। उसके बाद वर्षों के बाद वर्षों और शताब्दियों के बाद शताब्दियों के बीत जाने पर धीरे-धीरे विकास और ह्रास के साथ साथ, प्राकृतिक परिस्थितियाँ और भी उग्र और कठोर हो गईं। पृथ्वी के धरातल में बड़े-बड़े बदलाव और समुद्रों तथा पहाड़ों के विभाजन में भी नये-नये परिवर्तन उपस्थित हो गये, जिनके कारण हमारी पृथ्वी के जीवधारियों में भी बहुत बड़े परिवर्तन और नई-नई

जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके बाद करोड़ों वर्ष का हाल फिर नहीं मिलता। जीवन के इतिहास की बाहरी रूप-रेखा फिर अस्पष्ट हो जाती है, पर कुछ समय बीतने पर इस नवीन-युग का परदा उठता है और स्तनप्राणियों का यह वर्तमान युग प्रारम्भ होता है, जिसका क्रम अभी चला ही जा रहा है।

प्रारम्भिक स्तनप्राणियों को भी, प्रारम्भिक पक्षियों की तरह, जीवन-संघर्ष से विवश होकर, पृथ्वी के ठण्डे हिस्सों में रहने पर मजबूर होना पड़ा और विवश होकर उन्हें अपना ऐसा विकास करना पड़ा, जिससे सर्दी से उनकी रक्षा हो सके। पक्षियों के परों की तरह उनके शरीर पर के शल्क या सेहर (Scale) उन्हें ठण्डक से बचाने के लिए बालों में बदल गए। इसके अलावा जो बड़ा परिवर्तन उनमें हुआ वह उनके सन्तानोत्पत्ति के संबंध का था। खुश्की पर आने पर उनकी ज़िन्दगी ख़ाना-बदोशों की तरह हो गई। वे स्वयं ही जब दुश्मनों के डर से इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे, फिर अंडों के सेने की फ़ुरसत उन्हें कहाँ थी? चिड़ियों की तरह, वे पेड़ पर भी घोंसला बनाकर अंडे नहीं दे सकते थे; इसलिए उन्हें मजबूर होकर अपने भीतर ही अंडे रखने के योग्य, अपने शरीर को बनाना पड़ा और कुछ समय वे अंडों के बजाय जीते-जागते बच्चे पैदा करने लगे। बच्चों को दूध पिलाने के लिए उनके सीने पर स्तन निकल आये और उनका नाम स्तनप्राणी पड़ गया। इस प्रकार हमारी पृथ्वी के असंख्य जीवधारियों में स्तनप्राणियों की एक शाखा, अपने स्तन से दूध पिलाने के गुण के कारण और जीवधारियों से अलग कर दी गई। यहाँ एक बात न भूल जानी चाहिए कि स्तनप्राणियों में आस्ट्रेलिया-निवासी डकमोल और चींटीख़ोर दो ऐसे प्राणी भी हैं, जो इस गुण से परे हैं। ये अब भी अंडे देते हैं और उनके स्तन नहीं होते।

कुछ लोगों का ऐसा ख़याल है कि विकास का क्रम सीढ़ीनुमा है और संसार के प्रारम्भिक प्राणी से विकास होकर यह क्रम मनुष्य तक पहुँचा है, लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है। विकास के क्रम को यदि हम सीढ़ीनुमा न मानकर, उसकी एक वृक्ष की तरह कल्पना करें, तो हमें इसके समझने में आसानी हो जावेगी। इस विकास-वृक्ष में एक ही तना होने पर भी अलग-अलग अनेकों शाखाओं की कल्पना करनी होगी, जिसमें कुछ शाखाएँ कम बढ़ीं, कुछ का बहुत विस्तार हुआ और कुछ की बाढ़ कतई रुक गई। ये भिन्न-भिन्न शाखाएँ-प्रशाखाएँ हमारे जीव-जगत् की जातियाँ और उपजातियाँ हैं। इनमें फैली हुई वे हैं जिनका आज पृथ्वी पर राज्य है और बाढ़ रुक जाने वाली वे हैं, जो अपने को पृथ्वी के परिवर्तनों के अनुकूल बनाने में समर्थ न हो सकने के कारण, सदा के लिए लोप हो गई।

इस प्रकार हमारा विकास-वृक्ष उसी आदिमूल जीवपंक से प्रारंभ होगा, जिसमें पहले एक-कोष-प्राणी थे और जिनकी बनावट बहुत सीधी-सादी थी। आगे चलकर एक ओर एक शाखा निकली जिसमें विकास करके तारा-मछली आदि जीव हुए। दूसरी शाखा के प्राणियों ने अपना विकास कड़े और खोखले शरीर की ओर किया। इनमें से आगे चलकर केकड़े आदि हुए। कुछ आगे फिर एक नई शाखा फूटी जिसमें-के जीवधारियों ने बाहरी परिवर्तनों के साथ ही अपने में एक बड़ा परिवर्तन किया—रीढ़ की हड्डी का। इन्हें हम मछलियों के पूर्वज कह सकते हैं। ये अपना कुछ समय पानी से बाहर निकल कर खुश्की पर भी बिताने लगे और इस प्रकार एक और शाखा निकली जिसमें आगे चलकर हमारे मेंढक आदि उभचर हुए।

रीढ़वाले प्राणियों के विकास से विकास-क्रम में एक नया काल उपस्थित होता है, क्योंकि इस नवीन परिवर्तन से जीवों की

भीतरी बनावट ही एक प्रकार से बदल गई। केकड़े आदि जीवों से —जो कड़ी खोल में जकड़े रहकर अपना फैलाव ही नहीं कर सकते थे– ये रीढ़वाले जीव कहीं उन्नत थे। रीढ़ से इन्हें यह लाभ हुआ कि इनकी हड्डियाँ रीढ़ से जुटी रहकर इनके ऊपरी मांस के लिए एक मज़बूत ढाँचा बन गईं जिनसे इनके फैलाव में आसानी हो गई। इस महान् परिवर्तन के आधार पर ही आज हमारा प्राणी-जगत् रीढ़वाले अथवा मेरुदण्डी और बिना रीढ़-वाले अथवा अमेरुदण्डी इन दो मुख्य भागों में बाँट दिया गया है।

आगे चलकर एक शाखा सरीसृपों की निकली जिन्होंने जल और स्थल दोनों में रहने के लिए अपने आपको तैयार किया। इसमें हमारे मगर, घड़ियाल, साँप, गोह और छिपकलियाँ आदि शामिल हैं।

विकास का यह क्रम यहीं तक नहीं रुक गया, बल्कि आगे चल कर इसकी एक और शाखा निकली, जिसने अपने को हवा में उड़ने के योग्य बना लिया और इस प्रकार चिड़ियों की एक अलग ही श्रेणी बन गई। इधर तो चिड़ियाँ हवा में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए अपने विकास में लगी रहीं और उधर विकास-वृक्ष में एक नवीन शाखा और फूटी। यह शाखा स्तन-प्राणियों की थी। इसमें-के जीवधारियों ने अपनी इतनी उन्नति और इतना विकास कर लिया कि आज तक पृथ्वी पर से इनके आधिपत्य को कोई नहीं हटा सका। इनमें और बातों के अलावा जो विशेषता इन्हें जल-वायु के मामूली परिवर्तनों से बचाने में समर्थ हुई, वह इनके शरीर पर के बाल थे।

स्तनप्राणियों में भी कई उपशाखाएँ फूटीं, जिनमें किसी में गाय, बैल और हिरण आदि हुए तो किसी में बिल्ली, कुत्ते और शेर वगैरह। एक में गोरिला, शिम्पैन्ज़ी आदि हुए तो दूसरी में

एप। फिर उसी के निकट वाली तीसरी शाखा मनुष्यों की है, जो पशु होकर भी अपने उन्नत मस्तिष्क के कारण आज सभी प्राणियों पर राज्य कर रहा है। इस प्रकार यह ख्याल करना सरासर भूल है कि मनुष्यों के पुरखे बन्दर थे, या मनुष्यों का विकास बन्दरों से हुआ है। सत्य तो केवल इतना ही है कि हमारे और एप के पूर्वज एक ही थे और इसमें शर्माने की तो कोई बात नहीं जान पड़ती।

(२)

जीव और जड़ में बड़ा भेद है। जीव में दो विशेष गुण होते हैं जो जड़ पदार्थों में नहीं होते। एक तो वे बाहर से दूसरी वस्तुओं को ग्रहण करके अपने में मिला सकते हैं और दूसरे वे उत्पादन करके अपने को बढ़ा सकते हैं—अर्थात् वे खाते और सन्तानोत्पत्ति करते हैं। वे अपनी तरह के दूसरे प्राणियों को पैदा कर सकते हैं। एक कोष्ठ वाले निम्नश्रेणी के प्राणी अमीबा तक को, जिसे हम संसार का सब से सरल बनावट का प्राणी कह सकते हैं, प्रकृति ने संतानवृद्धि के साधन से वञ्चित नहीं किया है। यह आधे मिलीमीटर का इतनी सरल बनावट का प्राणी है कि प्रकृति को उसके जीवन-पदार्थ या प्रोटोप्लाज्म को उसमें रोक रखने के लिए एक झिल्ली देनी पड़ी है। अमीबा के नर मादा नहीं होते, लेकिन जब उसे अपना वंश बढ़ाना होता है, तब वह खुद ही बढ़ कर बीच से दो भागों में विभक्त हो जाता है।

एक बात सब जीवधारियों के लिए और भी आवश्यक है, जिसके बारे में हमें कुछ जान लेना जरूरी है। जब किसी जाति के जीवों के आस-पास की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, तब उन जीवों को भी अपने में उसी के अनुसार परिवर्तन कर लेना पड़ता है। यह परिवर्तन जल्द नहीं हो जाता, बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इसे हम प्राकृतिक-चयन (Natural Selection)

कहते हैं। जिन जातियों ने इस प्रकार के बाह्य परिवर्तनों के साथ अपने को परिवर्तित नहीं किया, उनका इस पृथ्वी से समूल नाश हो गया और आज हम उनका पता केवल उन चट्टानों की तहों से लगा पाते हैं, जिनके बीच में वे सदा के लिए सोकर अपना एक अस्पष्ट चिह्न-मात्र छोड़ गए हैं। इन पथरीये चिह्नों को, जो हड्डीवाले प्राणियों के दबने से पड़ गये हैं, हम फ़ासिल कहते हैं और पृथ्वी के प्रारम्भिक जीवन का बहुत कुछ इतिहास हमें इन्हीं 'चट्टानों के खाते' से मिला है।

(३)

इससे पहले कि हम जानवरों के मस्तिष्क के बारे में कुछ जानें, हमें एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जानवरों में थोड़ी-बहुत बुद्धि भले ही हो, लेकिन उनमें सोचने की शक्ति नहीं होती। वे किसी समस्या पर सोच-विचार नहीं कर सकते, क्योंकि विचार करना तभी संभव हो सकता है, जब भाषा का जन्म हो गया हो। भाषा के बन जाने पर ही हम हँस-बोल या विचार-विनिमय कर सकते हैं, लेकिन इसके बिना ये सब बातें संभव नहीं हो सकतीं—तोते और मैना को निरर्थक रटा देना तो दूसरी बात है।

सोचने की शक्ति न रहने पर भी जानवरों का काम नहीं रुकता। उनको अपना काम चलाने के लिए प्रकृति ने उन्हें एक प्रकार की नैसर्गिक बुद्धि दी है, जिसे पशु-बुद्धि या सहज-बुद्धि भी कहा जाता है। किसी ख़तरे के आने पर, यही पशु-बुद्धि उन्हें सतर्क कर देती है और इसी पर उनके जीवन का सारा व्यापार निर्भर रहता है।

चींटियों और मधुमक्खियों को देखकर कभी-कभी हमें उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है और हम यह सन्देह भी करने लगते हैं कि उनमें सोचने-समझने की शक्ति ज़रूर है—लेकिन वास्तव

में बात ऐसी है नहीं। चींटियाँ और मधुमक्खियाँ दूसरे कीड़ों के मुकाबले अक़्लमन्द ज़रूर कही जावेंगी, लेकिन उन्हें पशुओं और मनुष्यों से ज्यादा अक़्लमन्द कहना भूल होगी। वे तो, दरअसल, एक मशीन की तरह हैं, जिन्हें उनकी पशु-बुद्धि चलाती रहती है। यही नहीं, वे जिस काम के लिए पैदा की गई हैं, उसे छोड़ कर दूसरा काम इस जीवन में नहीं कर सकतीं। शहद की मक्खी सारी ज़िन्दगी सिवा शहद जमा करने के दूसरा काम जान ही नहीं सकती—यही हाल सब कीड़े-मकोड़ों का है। उनमें सोचने की शक्ति का एक-दम अभाव रहता है। बर्र या भिड़ को अगर कमर से काट दिया जावे, तो भी वह अपने खाने में उतनी ही मुस्तैद रहेगी, भले ही उसकी मौत हो जावे। इसका कारण यही है कि उसके मस्तिष्क का इतना विकास नहीं हुआ है कि वह किसी नये काम को सोच सके, जब कि वह दर्द का भी अनुभव नहीं कर पाती। दर्द का अनुभव तो तभी होता है, जब हमें स्नायुओं से उसकी सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है।

लेकिन जानवरों के ज्ञान न होने पर भी, बुद्धि तो होती ही है। वे तर्क-वितर्क भले ही न कर पावें, लेकिन अपनी पशु-बुद्धि की सहायता से अपना थोड़ा-बहुत काम चला ही लेते हैं।

बुद्धि के विभाजन का कोई ख़ास नियम नहीं दिखाई पड़ता, लेकिन मोटे तौर पर इतना तो हम कह ही सकते हैं कि जिस जानवर के जितना मग्ज़ है, उसकी अक़्ल भी उतनी ही होती है। लेकिन मग्ज़ या भेजे को हमें उनके बदन की तुलना में देखना चाहिए, क्योंकि वैसे तो आदमी का मग्ज़, हाथी क्या, शिम्पैंज़ी के भी मग्ज़ से तोल में कम होगा, लेकिन आदमी का भेजा, जहाँ उसके बदन का १/६० वाँ हिस्सा होता है, वहाँ हाथी का भेजा, उसके बदन का १/६०० वाँ हिस्सा होता है। इसी नियम से बिल्ली शेर से ज्यादा और कुत्ता घोड़े से अधिक बुद्धिमान् ठहरता है। लेकिन इसमें

कुछ बातें और भी हैं, जो कम महत्त्व नहीं रखतीं। अक्ल केवल भेजे की बड़ाई पर निर्भर नहीं रहती, बल्कि उसके आकार, घनत्व और नाप का भी इसमें काफ़ी हाथ रहता है।

निम्न श्रेणी के जीवों का भेजा चिकना और बिना शिकन का होता है, लेकिन उच्च श्रेणी के जीवों के भेजे में ज्यादा शिकन होती है। नतीजा इसका यह होता है कि ज्यादा शिकन वाले भेजे का रक़बा बढ़ जाने से उनमें अक्ल भी ज्यादा होती है।

मस्तिष्क का यह वर्णन, मस्तिष्क को थका देने वाला ही नहीं, बल्कि हमें धोखे में डाल देने वाला भी है। पशु-बुद्धि या नैसर्गिक बुद्धि, साधारण बुद्धि से बिल्कुल भिन्न है और उससे भी भिन्न है ज्ञान, जिसका आधार है हमारी विचार-शक्ति या सोचने की ताक़त। पशुओं में सहज-बुद्धि तो बहुत प्रबल होती है, कम-बेश बुद्धि भी होती है, पर उनमें विचार-शक्ति या ज्ञान नहीं होता; लेकिन बन्दर जिस आसानी से नल खोल लेते हैं और चूहे जिस चालाकी से घी की शीशी में दुम डालकर घी चट कर जाते हैं, उसको देखकर हम कभी-कभी यह शक करने लगते हैं कि जानवरों में ज्ञान भी है क्या? लेकिन वास्तव में इन सबका संचालन ज्ञान से न होकर उसी सहज बुद्धि के द्वारा होता है जिसमें थोड़ी-बहुत अक्ल का भी नियंत्रण रहता है। उनके बहुत-से काम नकल से और बहुत-से काम असफल होने पर निरन्तर उद्योग के कारण ठीक हो जाते हैं, जो हमें कभी-कभी इस प्रकार के शक में डाल देते हैं।

(४)

जानवरों में जोड़ा बाँधने का समय चिड़ियों तथा अन्य जीव-धारियों की तरह साल में बँटा-सा है, लेकिन मनुष्यों के निकट सम्बन्धी वनमानुष जैसे इस नियम को नहीं मानते। जोड़ा बाँधने का समय आने पर नर जानवर मादा को रिझाकर उससे जोड़ा

बाँध लेता है और फिर वे एक-साथ रहने लगते हैं। उन्हें रिझाने में कभी अपना सुन्दर स्वरूप दिखा कर सफलता मिलती है, तो कभी अपना पराक्रम दिखाकर! यही कारण है कि नर हमेशा मादा से बलवान् और सुन्दर होते हैं।

रूप और पराक्रम के अलावा, मादा को रिझाने के लिए कुछ जानवरों को प्रकृति ने एक प्रकार की गन्धग्रन्थियाँ दी हैं। कस्तूरी-मृग के बारे में हम सब लोग जानते ही हैं। हाथी के मद बहने के बारे में भी तुमने सुना होगा। जोड़ा बाँधने के समय नर-हाथी की आँख के ऊपर की गन्ध-ग्रन्थि से एक प्रकार का मद या गाढ़ा पदार्थ कनपटी पर होकर बहता है। इसी प्रकार का गाढ़ा द्रव पदार्थ नर-ऊँट के भी सिर के पीछे की ग्रन्थि से निकलता है।

पशु-समाज में मादाओं की संख्या के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ पशु, सारस की तरह, एक मादा से जोड़ा बाँध कर उसी के साथ अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं, तो कुछ ऐसे भी हैं जो मोर की तरह अपनी मादाओं का रनिवास अपने साथ रखते हैं।

जोड़ा बँध जाने पर, वैसे तो प्रत्येक प्राणी सुरक्षित घर की इच्छा रखता है, लेकिन इसके लिए एक साधारण नियम यह देखा जाता है कि घर बनाने का झुकाव हमें निम्न श्रेणी के जीवों में अधिक मिलता है। चींटी, दीमक और मधुमक्खी इसकी जिंदा मिसाल हैं। लेकिन ज्यों-ज्यों जीव अधिक बुद्धिमान् होते जाते हैं उनमें घर का भाव जैसे कम होता जाता है।

पशुओं का भी यही हाल है। गिलहरी आदि कुछ जीव ऐसे जरूर हैं जो सुन्दर घोंसले बनाते हैं, और छछूँदर आदि कुछ बिल खोदने में उस्ताद प्राणी भी हैं, लेकिन ये पशु-जगत् के निम्न श्रेणी के जीव ही कहे जायँगे। मांसभक्षी जीव जहाँ घने गढ़ों पर अक्सर सन्तोष कर लेते हैं, वहाँ पशुओं में सबसे विकसित

प्राणी—वनमानुष—अक्सर पेड़ के नीचे ही अपनी गुज़र कर लेता है। लेकिन यहाँ एक बात न भूल जानी चाहिए कि जानवरों को छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों और चिड़ियों की तरह उतनी आसानी नहीं रहती और उन्हें अपने को दुश्मनों से बचाने के अलावा अपना निवास-स्थान भोजन और पानी के बदलाव के साथ-ही-साथ बदलना पड़ता है। यदि वे एक जगह स्थायी घर बनाकर बस जावें, तो उन्हें दुश्मन तो साफ़ ही कर दें, लेकिन अगर उनसे बच भी जावें तो उन्हें भूखों मर जाना पड़े।

जानवर घर बनाने के मामले में भले ही बेपरवाह हों, लेकिन बच्चों के पालन-पोषण में वे बहुत दक्ष होते हैं, क्योंकि यह बहुत कुछ बुद्धि पर निर्भर रहता है। इसीलिए बन्दर आदि जो घर बनाने में एकदम लापरवाह रहते हैं, अपने बच्चों के पालने में और उनकी शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की कमी नहीं करते। बंदरिया अपने बच्चे को केवल पेट से चिपकाये ही नहीं रहती, बल्कि उसकी इतनी हिफ़ाज़त भी करती है, जितनी कोई नर्स क्या करेगी। वह अपने बच्चे को खाना देने से पहले उसे चख लेती है। यही नहीं, वह बच्चे की शिक्षा में भी किसी प्रकार की कोताही नहीं करती। एक ओर जहाँ वह उसे अपनी दुम का सहारा देकर पेड़ पर चढ़ना सिखाती है, वहीं जरूरत पढ़ने पर वह उसे मारती भी है।

इसी तरह चमगादड़ भी अपने बच्चों की देख-रेख करते हैं, और यही हाल बहुत से मांस-भक्षी और तीक्ष्णदन्त पशुओं का है। सिंघनी अपनी दुम हिला कर अपने बच्चों को शिकार करना सिखाती है और पहाड़ी भेड़ के बच्चे अपनी माँ के पैर के इशारे से दुर्गम पहाड़ी रास्तों पर चलने की तालीम पाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा वैसे तो बच्चे प्रायः अपनी माँ से ही पाते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी जानवर हैं जिनके नर के ऊपर ही बच्चों के पालन-

पोषण और शिक्षा का भार पड़ता है।

बच्चों के पालन-पोषण की तरह बच्चों की मुहब्बत का भी सम्बन्ध बहुत कुछ जानवरों की अक्ल से है। इसीलिए हम कीड़ों से ज्यादा चिड़ियों में और चिड़ियों से ज्यादा स्तनपायियों में मुहब्बत और प्रेम का जज़बा पाते हैं।

पशुओं का म उन्हीं की जाति या वंश तक सीमित रहता हो सो बात नहीं है। जानवर अपनी जाति के प्राणियों के अलावा दूसरे जीवों और पालतू हो जाने पर मनुष्यों तक को प्यार करने लगते हैं। कुत्तों का प्रेम प्रसिद्ध ही है। हाथी और घोड़े भी अपने मालिक को कम प्यार नहीं करते। इसी तरह दूसरे पशुओं के प्रेम की अनेकों कथाएँ सुनने में आती हैं। कुत्ते तो अक्सर मालिक के मरने पर रो-रोकर मरते देखे गये हैं और प्रायः यह भी देखा गया है कि जोड़े के मर जाने पर कुछ जानवरों ने खाना छोड़ दिया और मर गये।

मुहब्बत के साथ-ही-साथ जानवरों में द्वेष का माद्दा भी कम नहीं होता, लेकिन इन दोनों के होते हुए भी इनमें सोचने की शक्ति होती हो, इसका कोई सबूत हमें नहीं मिलता। इन दोनों प्रेरणाओं को वही उनकी सहजबुद्धि चलाती है।

पशुओं में समाज-संगठन का ज्ञान होता है या नहीं, इसके बारे में कुछ जानने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि समाज की परिभाषा क्या है? पशुओं के झुण्ड या समूह को समाज नहीं कहा जा सकता, बल्कि समाज तो परिवारों के उस समूह से बनता है जो आपस में मेल-जोल रख कर एक दूसरे की मदद करते हैं और एक-दूसरे की उन्नति में सहायक होते हैं। उनमें स्थायित्व तो होता ही है, साथ-ही-साथ उसके संचालन में बुद्धि की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। इसीलिए यदि हम समाज का कुछ स्वरूप पशु-जगत में देखते हैं तो उन्हीं पशुओं

में जो औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हैं। हमें कीड़ों-मकोड़ों से ज्यादा चिड़ियों में और चिड़ियों से ज्यादा पशुओं में समाज-संगठन का आभास मिलता है। लेकिन इसको भी हम समाज का सच्चा स्वरूप नहीं कह सकते।

जानवरों में बन्दर सब से अधिक बुद्धिमान् हैं। उनमें एक-दूसरे की मदद, आपस का मेल-जोल और गोलबन्दी की भावना और दूसरे जानवरों से कहीं ज्यादा हैं। लेकिन उनका संगठन भी समाज नहीं कहा जा सकता, भले ही उसमें हम समाज की कुछ बुनियादी छाया पाते हों।

कुछ जानवर ऐसे हैं जो अपने में से एक को सरदार चुन लेते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो पशुओं के हमले के समय आक्रमण-कारी पर संगठित होकर हमले का मुकाबला या प्रत्याक्रमण करते हैं, लेकिन इसको भी बुद्धि द्वारा संगठित समाज नहीं कहा जा सकता। यह तो उसी सहज-बुद्धि का परिणाम है, जो उनमें स्वभावतया रहती है।

अन्त में हमें यह देखना है कि जानवर हमारे मित्र हैं या शत्रु ? उनसे हमको लाभ होता है या हानि ? इसकी खोज के लिए जब हम सारे पशु-जगत् पर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि जानवर हमारे लिए अन्य जीवों से कहीं अधिक फ़ायदेमन्द हैं। वे हमें सीप की तरह मोती जैसी मूल्यवान् वस्तु भले ही न देते हों, लेकिन उनमें से बहुतों ने अपना जंगल छोड़ कर सदा के लिए हमारे साथ रहना पसन्द किया है। गाय, भैंस, ऊँट, घोड़ा, हाथी आदि बहुत से ऐसे जानवर तो हैं ही, जिनका मनुष्य की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ रहा है, लेकिन उन्हीं के साथ-साथ हम भेड़-बकरी की तरह के उन निरीह पशुओं को भी नहीं भूल सकते, जिन्होंने न जाने कितने समय से हमारी उदर-पूर्ति का साधन बन कर मनुष्य जाति को जीवित रखा है। आज

भी हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते और आज भी हमारे जीवन में उनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इतना ही क्यों, उनमें से कितने ही इस समय भी हमारी सवारी और यातायात के साधन बने हुए हैं। उनकी एक बड़ी संख्या इस समय भी अपने मांस से केवल हमारा पेट ही नहीं भरती, बल्कि अपने ऊन और चमड़े से हमारा बदन भी ढकती है। हम उनकी कुछ सहायता भले ही न करें लेकिन क्या हम उनके एहसान से भी इनकार कर सकते हैं ?

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

(डा० देवराज एम० ए०, पी-एच० डी०)

दार्शनिक चिन्तन की प्रेरक शक्ति जहाँ एक ओर मानवता की अदम्य जिज्ञासा-वृत्ति है, वहाँ दूसरी ओर उसकी पूर्णत्व की ओर बढ़ने की प्रबल वासना है। विभिन्न विचारकों में समय-समय पर इन दो में से एक वृत्ति अधिक तीव्र हो जाती है। इस प्रकार दर्शन-शास्त्र एक ओर विज्ञान से और दूसरी ओर मोक्ष-धर्म से गहरा संबन्ध रखता है। अपने चिन्तन में दर्शन वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्ब लेता है। वह विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा भी करता है। विज्ञान खंड-सत्यों का अन्वेषण करते हैं। दर्शन का लक्ष्य अखण्ड सत्य—समग्र-विश्व-विषयक सत्य—है। इस प्रकार दर्शन में मानवता के विभिन्न ज्ञान-प्रयत्नों का पर्यवसान होता है। साथ ही दर्शन मानव-जीवन के लक्ष्य का निर्देश करने की चेष्टा करता है। योरुपीय दर्शन में वैज्ञानिक प्रेरणा की प्रधानता रही है और भारतीय दर्शन मोक्ष-धर्म में अधिक अभिरुचि लेता रहा है। दोनों ही प्रकार की प्रेरणाओं के मूल में जिज्ञासा-वृत्ति रहती है; भेद जिज्ञासा के विषय में हो जाता है।

वस्तुतः हम अनुभव-जगत् में दो तत्व पाते हैं—एक तो कार्य-कारणभाव से नियमित वास्तविकताओं की शृङ्खला और दूसरा शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर आदि मूल्यों का संसार, जिसका देश-काल से विशेष संबन्ध नहीं दीखता। दार्शनिक जिज्ञासा के ये दोनों ही क्षेत्र हैं। मूल्य-जगत् में कुछ तत्व सापेक्ष और ससीम दीखते हैं। जैसे प्रेम, यश, अपयश आदि, यह मूल्य नीति-शास्त्र का विषय है। भारतीय दर्शन सापेक्ष मूल्यों से भी उदासीन रहकर असीम या निरपेक्ष लक्ष्य या आदर्श की खोज करता रहा। इसके विपरीत योरुपीय दर्शन ने व्यावहारिक मूल्यों के अध्ययन अर्थात् लोक-धर्म में अधिक अभिरुचि ली। किन्तु दार्शनिक चिन्तन की पूर्णता सापेक्ष और निरपेक्ष मूल्यों एवं घटना-जगत् और मूल्य-जगत् के पारस्परिक संबन्धों को बुद्धिगम्य बनाने में है। वह अनुभव-जगत् के किसी अंश से उदासीन नहीं रह सकता। इस प्रकार न तो दर्शन और विज्ञान में कहीं विरोध की गुञ्जायश है, न दर्शन और मोक्ष-धर्म में।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक पाल्सन ने अपने ग्रन्थ—"दर्शन की भूमिका"—में योरुपीय दर्शन की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए लिखा है—

'Philosophy is the sum of all scientific knowledge. History demands that we accept this definition.'[1]

अर्थात् दर्शन की दार्शनिक इतिहास-सम्मत व्याख्या यही है कि वह विभिन्न विज्ञानों का योग अथवा सब प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का एकीकरण है। किन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है। विभिन्न विज्ञान जीवन के मूल्यों पर विचार नहीं करते, और ज्ञान-मीमांसा की भांति मूल्यों का स्वरूप-निर्णय दर्शन की अपनी समस्या

[1] Introduction to Metaphysics (१९३०) पृ० ३३

है। वस्तुतः कुछ आधुनिक लेखकों ने तो दर्शनों को मूल्यों का विज्ञान (Science of Values) कहकर वर्णित किया है। दूसरे लेखकों के अनुसार मूल्यानुचिन्तन दर्शन का प्रधान काम है। हैनरी स्टीफेन ने लिखा है—"हम क्या हैं? हमें क्या करना है? हम क्या आशा कर सकते हैं? —दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है, पर वह यह उत्तर सृष्टि के स्वरूप की खोज और उसमें हमारे स्थान का निर्णय करके प्राप्त करना चाहता है[1]।" दर्शन की यह अन्तिम परिभाषा भारतीय विचारकों को ग्राह्य हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार भी आत्मा के स्वरूप और उसके मोक्षरूप का ज्ञान दर्शन की प्रमुख समस्या है। वस्तुतः पूर्व और पश्चिम की दर्शन संबन्धी धारणाएँ परस्पर भिन्न न होकर एक-दूसरे की पूरक

पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से मूल्य-जगत और घटना-जगत् में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। प्राच्य दर्शनों के अनुसार सब प्रकार के मूल्यों का अधिष्ठान आत्मा है, और यह आत्मा जड़-जगत् से भिन्न है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त सब के अनुसार आत्मा का प्रपञ्च से संबन्ध-विच्छेद ही मोक्ष है। भक्ति-मार्गी दर्शनों का मत और है। पर इन दर्शनों का चिन्तनात्मक आधार दुर्बल है। मध्वाचार्य उपर्युक्त मत के ही पोषक हैं। उनके अनुसार आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि के अनुसार मुक्त जीव लोक-विशेष में भगवान् के साथ रहता है।

पश्चिम के जड़वादी विचारक जहाँ मूल्य-जगत् को असत् या अवास्तविक, मात्र बाइ-प्रोडक्ट, घोषित करते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी विचारक मूल्यों को घटना-जगत् में ओत-प्रोत मानते हैं। वे समस्त विश्व को मानव-आदर्शों से परिचालित अर्थात् प्रयोजनोन्मुख व्यापार-समष्टि के रूप में कल्पित करते हैं। घटना-जगत

[1] Problems of Metaphysics (१९१२), पृ० १

और मूल्य-जगत् में कोई द्वैत नहीं है। घटनाए मात्र कार्य-कारण-परंपरा रूप नहीं हैं। वे एकरूप चरम लक्ष्य की ओर गतिमान् भी हैं। भौतिक नियम-प्रवाह के साथ ही विश्व में नैतिक नियम-प्रवाह (Moral order) भी सजग है।

धर्म और साधना के क्षेत्र में भारतीय दर्शन की सब से महत्वपूर्ण देन जीवन्मुक्ति की धारणा है। किसी कल्पित परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी मनुष्य की अहम्ता-शून्य असीम में अवस्थिति संभव है। वह तुच्छ राग-द्वेष, मानापमान, हानि लाभ से परे हो सकता है। इसके विपरीत पाश्चात्य बुद्धि अनवरत प्रयत्न और व्यक्तित्व के पोषण में जीवन की महिमा देखती है। किन्तु आसन्न अतीत में इस घोर व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। समाजवाद ने अन्ध प्रतिद्वन्द्विता और व्यक्तिवाद का विरोध किया है। अपने ग्रन्थ "लक्ष्य और साधन" (Ends and Means) में आल्डस हक्सले ने बड़े जोरदार शब्दों में भारतीय नैष्कर्म्य (निष्काम कर्म) के आदर्श का समर्थन किया है—

The ideal man is the non-attached man. Non-attached to his bodily sensations and lusts ; non-attached to his craving for power and possession . . . . ; non-attached to his anger and hatred ; non-attached to his exclusive loves ; non-attached to wealth, fame, social position ; non-attached even to service, art, speculation, philanthropy. Yes, non-attached even to these. For, like patriotism . . . . they are not enough.*

अर्थात् "आदर्श पुरुष अनासक्त पुरुष है। अनासक्त शारी-

* Ends and Means (१९४०) पृ० ३–४

रिक संवेदनों में, वासनाओं में, शक्ति की इच्छा में, विविध सामग्री में; क्रोध में, घृणा में; व्यक्तिगत प्रीतियों में; धन में, यश में, सामाजिक सम्मान में। अनासक्त कला, चिन्तन और जनसेवा में; हाँ, इनमें भी, क्योंकि यह देश-प्रेम की भाँति, पर्याप्त नहीं हैं।"

अन्यत्र वही लेखक लिखता है—"वर्तमान परिस्थिति में जनता की नैतिक चेतना, शक्ति और सामाजिक उच्चता के इच्छुक को बुरा नहीं समझती। योरुप और अमेरिका के बालक सामाजिक उच्चता प्राप्त कर लेनेवाले की प्रशंसा करते हैं और उसकी सफलता को पूज्य दृष्टि से देखते हैं; वे अमीरों और पदस्थों से ईर्षा करना भी सीखते हैं, एवं उनका आदर और आज्ञा-पालन भी। अर्थात् महत्वाकांक्षा और आलस्य, दो सम्बद्ध बुराइयाँ गुण समझी जाती हैं। तब तक संसार का कल्याण नहीं हो सकता जब तक लोग शक्ति के आकांक्षी को उतना ही बुरा न समझने लगें जैसा कि अत्याहारी कञ्जूस को" (पृ० ३२०)। व्यक्तिवाद का इससे अधिक तीव्र विरोध असंभव है।

हक्सले के उद्गारों से यह स्पष्ट है कि सत्य कभी पुराना नहीं पड़ता, न वह कभी अनावश्यक ही हो सकता है। प्राचीन भारत के नैतिक सिद्धान्त आज की दुनिया के लिए आवश्यक और उपादेय हो सकते हैं। पूर्व के विचारों से पश्चिम और पश्चिम के विचारों से पूर्व लाभान्वित हो सकता है। सत्य का अन्वेषण और उपयोगिता देश-विशेष या काल-विशेष में सीमित नहीं है। वस्तुतः कोई सत्य कितना एकांगी है और कितना पूर्ण, इसकी ठीक से परीक्षा तब होती है जब वह अपने अन्वेषक देश-काल के घेरे से बाहर पहुँचता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों के विचारक निष्पक्ष सहानुभूति से एक-दूसरे की सत्यता और विचार-परंपरा को समझने की चेष्टा करें जिससे पारस्परिक सहानुभूति एवं सामान्य मनुष्यता के विकास में सहायता मिले।

इसके लिए तुलनात्मक-दर्शन का अध्ययन तो और भी जरूरी है, क्योंकि प्रत्येक देश और जाति के श्रेष्ठतम विचार उसके दार्शनिक साहित्य में निहित रहते हैं।

अर्थशास्त्र और उसके सिद्धांत

(श्रीभगवानदास अवस्थी एम. ए.)

अर्थशास्त्र में मनुष्यों के सम्बन्धों का विचार किया जाता है। अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है, जिसमें मनुष्य के प्रतिदिन के कार्यों, विचारों और गति-विधियों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में मनुष्य के उन सामूहिक और पारस्परिक कार्यों पर विचार किया जाता है, जिनका उसके प्रतिदिन की जीविका के उपार्जन से सम्बन्ध रहता है। अर्थशास्त्र में उन सब कार्यों के प्रयोजनों तथा स्थितियों की छान-बीन की जाती है। चालकों और उनके कारणों और परिणामों का निर्देश किया जाता है। चूँकि अर्थशास्त्र में उन मनुष्यों का विचार किया जाता है जिनके प्रयोजन, स्थितियाँ, काय तथा सम्बन्ध आदि समय-समय पर बदलते रहते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र की कोई भी पद्धति ऐसी नहीं हो सकती जो सभी स्थानों, सभी समयों में सभी प्रयोजनों तथा कार्यों पर एक-सी लागू हो सके। स्थिति के तथा प्रयोजनों के बदल जाने पर बहुत-सी बातें बदल जाएँगी।

किंतु, यह बात केवल अर्थशास्त्र के ही सम्बन्ध में कही जाय, सो बात नहीं है। न्यायशास्त्र, औषध-विज्ञान आदि जिन शास्त्रों के सम्बन्ध परिवर्तनशील मनुष्य से हैं, उन सबको इसी तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परिस्थिति बदल जाने से उनके सिद्धान्तों में भी हेर-फेर आ जाता है। असल में सभी शास्त्रों तथा विज्ञानों के सिद्धांत उसी दशा में पूरी तरह से लागू हो सकते हैं, जब यह मान लिया जाता है कि अन्य सभी बातें

पूर्ववत् ही हैं—स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि स्थिति में कोई परिवर्तन हो जाता है, तो किसी भी शास्त्र या विज्ञान का सिद्धान्त पूरी तरह से लागू नहीं हो सकता। आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ऐसी वस्तु को, जो हवा से भारी हो, आधार के न रोकने पर ज़मीन पर गिर पड़ना चाहिए। किंतु हवाईजहाज़, पक्षी, गुब्बारे नीचे न गिर कर ऊपर उड़ते जाते हैं। इसका यही कारण है कि कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है, जो आकर्षण-शक्ति के काम में बाधा डाल कर हवाई जहाज़ आदि को नीचे गिरने से बचाती रहती है। इसका यह मतलब नहीं है कि आकर्षण-शक्तिवाला सिद्धान्त कुछ वस्तुओं पर लागू नहीं होता, इस कारण ग़लत है। असल बात यह है कि कुछ बाधाएँ बीच में पड़ कर उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य नहीं होने देतीं। प्रत्येक शास्त्र और विज्ञान के लिए यही बात लागू होती है। प्रत्येक सिद्धांत एक ख़ास परिस्थिति में ही लागू हो सकता है। उस परिस्थिति के बदल जाने पर, बाधाओं के उपस्थित हो जाने पर, वह सिद्धांत लागू नहीं हो सकता। इससे उस सिद्धांत की सचाई में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। चूँकि अर्थशास्त्र को परिवर्तन-शील स्वभाववाले मनुष्यों के कार्यों पर विचार करना पड़ता है, इस कारण अर्थशास्त्र के सिद्धांत सदा उतने ठीक नहीं बैठते, जितना कि उन्हें बैठना चाहिए। यह इस कारण कि सिद्धांतों के बिलकुल ठीक और सच्चे होने पर भी आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी जल्दी-जल्दी और इतनी तेज़ी से बदलती रहती हैं कि यह तय करना कठिन हो जाता है कि अर्थशास्त्र के किसी एक सिद्धांत के अनुसार विचार करते समय अन्य किन-किन विरोधी परि-स्थितियों तथा बाधाओं का विचार कर लेना चाहिए। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त तो सच्चे और ठीक हैं, पर परिस्थितियों के तेज़ी से जल्दी-जल्दी बदलते रहने से उनके अनुसार निर्णय के सम्बन्ध

में भ्रम हो जाना सम्भव हो सकता है। इन सब बातों को अच्छी तरह से समझ लेने पर यही मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त उसी तरह निश्चित अथवा अनिश्चित माने जाने चाहिएँ जिस तरह कि किसी भी अन्य शास्त्र या विज्ञान के।

एक बात और है। अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिनके सिद्धांतों की परीक्षा करते समय प्रयोगशाला में बैठ कर विरोधी बातों और परिस्थितियों को बिल्कुल दूर रक्खा जा सकता है और इस बात की परीक्षा प्रयोग द्वारा की जा सकती है कि अमुक कारण उपस्थित होने पर अमुक परिणाम होगा। किन्तु अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ऐसी न तो कोई प्रयोगशाला ही मिल सकती है और न इतनी आसानी से विरोधी परिस्थितियाँ और बाधाएँ ही दूर की जा सकती हैं, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव बड़ा परिवर्तन-शील है और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्बन्ध मनुष्यों की इच्छाओं से रहता है। और मनुष्य की इच्छाए रोकी नहीं जा सकतीं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत उतने स्थिर और निश्चित नहीं माने जा सकते, जितने कि उन अन्य शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धान्त जिनका सम्बन्ध मानवीय इच्छाओं ऐसी अस्थिर बातों से नहीं है।

अर्थशास्त्र में मनुष्यों के कार्यों का अध्ययन किया जाता है। किन्तु मनुष्य के प्रत्येक कार्य का कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। किसी-न-किसी इच्छा से प्रेरित होकर ही मनुष्य कोई कार्य करता है। अर्थशास्त्र में मनुष्य के उन कार्यों का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है जिनका प्रयोजन प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक होता है, यानी जिन कार्यों का प्रयोजन जीविका या धन पैदा करना होता है।

मनुष्य की इच्छाएँ प्रत्यक्ष रूप से मापी नहीं जा सकतीं। केवल इच्छाओं के उस प्रभाव को अप्रत्यक्ष-रूप से मापा जा

सकता है, जिससे प्रेरित होकर किसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह या तो कुछ देने को तैयार होता है या लेने या किसी प्रकार के उद्योग करने को तैयार होता है। यदि कोई मनुष्य एक रूमाल के लिए चार आना देकर उसे खरीद लेता है तो यह माना जायगा कि एक रूमाल लेने की इच्छा का मूल्य उसके लिए चार आना के बराबर है, जो उसने रूमाल खरीद करने में व्यय किया है। यदि एक आदमी एक रुपया रोज़ पर आठ घण्टे काम करता है, तो यह प्रगट हो जाता है कि उसके आठ घंटे काम करने की इच्छा की माप एक रुपया है, यानी एक रुपया प्राप्त करने के प्रयोजन से वह आठ घंटे काम करने को तैयार होता है। आर्थिक प्रयोजन की यह माप प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रत्यक्ष-रूप में किसी भी इच्छा की माप नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि एक ही वस्तु की इच्छा दो मनुष्यों के लिए प्रायः एक-सी तीव्र नहीं रहती। एक लड्डू के खाने से हरि को जो तृप्ति होगी, उसका केशव को होनेवाली तृप्ति से मिलान सीधे तौर पर किया ही नहीं जा सकता। केवल यह निर्णय निकाला जा सकता है कि यदि दोनों मनुष्य एक-एक लड्डू के एवज़ में एक-एक आना देने को तैयार हों, तो उनकी इच्छा को तीव्रता एक बराबर मानी जायगी। दो मनुष्यों की तो बात ही नहीं, यदि एक ही मनुष्य उसी एक वस्तु की इच्छा विभिन्न समयों में करेगा, तो इच्छा की तीव्रता भिन्न-भिन्न होगी। कभी वह उसी एक लड्डू के लिये एक आना देने को तैयार हो सकता है और कभी केवल दो पैसे ही। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य एक बार सिनेमा देखने के लिए एक रुपया खर्च करने को तैयार हो और सरकस देखने के लिए दो रुपये व्यय करने को, तो इससे यही प्रकट होगा कि उसकी सरकस देखने की इच्छा की तीव्रता दूनी है।

मनुष्य इच्छाओं और कार्यों को इस प्रकार द्रव्य के रूप

में मापा जाता है। प्रयोजन की इस माप द्वारा अर्थशास्त्र के अध्ययन में अधिक यथार्थता आ जाती है और इस माप के कारण अर्थशास्त्र के विचार तथा निर्णय में स्पष्टता और सुविधा हो जाती है।

किन्तु यह माप बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। इससे इच्छाओं की तीव्रता और उसके लिए किए जाने वाले त्याग का अन्दाजा-भर लगाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि द्रव्य की एक इकाई यानी एक रुपये का मूल्य सभी आदमियों के लिए एक बराबर नहीं हो सकता। एक गरीब आदमी के लिए एक रुपये का मूल्य या महत्व किसी एक धनी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक होगा, क्योंकि जिसके पास जितना ही अधिक द्रव्य या रुपया होगा उसके लिए एक रुपये का महत्व उतना ही कम होगा। अस्तु, यदि एक बार सिनेमा देखने के लिए एक धनी व्यक्ति एक रुपया खर्च करता है, और उसी के लिये एक गरीब मनुष्य भी एक ही रुपया खर्च करता है, तो इससे यह साबित न होगा कि दोनों की इच्छाओं की तीव्रता तथा उनके कार्यों के चालकों का मूल्य बराबर-बराबर है।

किन्तु, अन्य उपायों के न रहने पर प्रयोजनों की माप द्रव्य द्वारा ही की जाती है और इस माप के द्वारा अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में अधिक यथार्थता आ जाती है, तथा छान-बीन करने में सुभीता होता है।

मनुष्य दो उद्देश्यों से किसी विद्या का अध्ययन करता है, एक तो केवल ज्ञान के लिए और दूसरे उस विद्या से प्रतिदिन के जीवन में होनेवाले हित के लिए। वैद्यक; न्याय-शास्त्र आदि का अध्ययन इसलिए किया जाता है कि उनके प्रयोगों द्वारा रोगियों या मुकदमे में फँसे हुए व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जाय। खगोल विद्या का अध्ययन ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

किन्तु, केवल ज्ञान के लिए पढ़े गये शास्त्रों से भी कुछ-न-कुछ व्यावहारिक लाभ उठा ही लिया जाता है। किन्तु किसी अध्ययन में ज्ञान की मात्रा अधिक होती है और किसी में व्यावहारिक लाभ उठाने की।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य समाज के आर्थिक जीवन को अधिक हितकर बनाना है। असल में पश्चिमीय देशों की अत्यन्त निर्धन, दीन-दुःखी जनता के असह्य कष्टों के कारण ही उन देशों में अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है। यह देखा गया था कि निर्धन जनता को अनेक प्रकार के भीषण कष्ट सहने पड़ते हैं। कुछ दयालु महानुभावों ने उन दीन-दुखियों की दशा का अध्ययन किया और उनकी अवनति के कारणों का पता लगाने की चेष्टा की। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का पता चला और वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय रूप से अर्थशास्त्र की स्थापना हुई।

दीन-दुःखी जनता की दशा का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद उस समय के कुछ विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे कि उनकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक अवनति और पतन का एक बड़ा ज़बर्दस्त कारण उनकी ग़रीबी ही है। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य जनता की आर्थिक स्थिति सुधारना, जनता की ग़रीबी दूर कर उसके सुख-सन्तोष को बढ़ाना है।

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है—संपत्ति की वृद्धि के साधनों को सुलभ करके दरिद्रता और आर्थिक कष्टों को दूर कर सुख-समृद्धि की वृद्धि करना और जनता का अधिक से अधिक कल्याण-साधन करना।

अनेक विद्वानों का मत है कि संपत्ति और जनहित दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। किन्तु छान-बीन करने पर यह मानना पड़ता है कि संपत्ति का प्रमुख गुण है मनुष्य की किसी-न-किसी

इच्छा और आवश्यकता की पूर्ति करके उसे सन्तोष देना। और मनुष्य को सन्तोष से सुख प्राप्त होता है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर ही उसका हित होता है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जिनकी पूर्ति होनी इसीलिए जरूरी है कि यदि उनकी पूर्ति न हो सकी तो उसका जीवन ही न रह सकेगा। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र, रहने के लिए सुरक्षित स्थान, ईंधन आदि की आवश्यकता होती ही है और बिना इनकी पूर्ति के उसके प्राण तक नहीं बच सकते। और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है वे संपत्ति में समावेशित हैं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि संपत्ति का एक ऐसा अंश है जिसका होना मनुष्य के हित के लिए, उसके प्राणों की रक्षा के लिए, उसकी कुशलता और स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ तक तो संपत्ति और जनता के आर्थिक हित एक साथ चलते हैं।

कहा जाता है कि अपार संपत्ति के साथ-ही-साथ अपार दरिद्रता, असह्य कष्ट जनता को सहने पड़ते हैं। थोड़े से स्वार्थी मनुष्य संपत्ति का एक बड़ा भाग छीन कर मौज उड़ाते हैं और अधिकांश जनता को असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं। संपत्ति और जनता के आर्थिक हित ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। किन्तु तनिक सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलेगा कि जनता के उसी भाग को इस प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं जिनके पास सम्पत्ति नहीं रहती—जो निर्धन होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कष्टों से और सम्पत्ति से कोई लगाव नहीं है, वरन् जहाँ सम्पत्ति नहीं होती, वहीं कष्ट होते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, संपत्ति से मनुष्य के किसी अभाव की, उसकी किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है और अभाव की, आवश्यकता की पूर्ति होने से सुख-संतोष का होना जरूरी है।

संपत्ति से जो सन्तोष होता है, उसके कारण मनुष्य का कुछ-न-कुछ हित होता ही है। सम्पत्ति से जनता का हित होना अनिवार्य है।

कुछ स्वार्थी मनुष्य जनता के एक बड़े भाग से संपत्ति का अधिक भाग छीन कर जनता में दरिद्रता और कष्टों की वृद्धि करते हैं, इसमें संपत्ति का कुछ भी दोष नहीं है। वरन् दोष उस प्रणाली का है, जिसके द्वारा कुछ स्वार्थी मनुष्य संपत्ति से समाज के एक बड़े भाग को वञ्चित रखते हैं। अर्थशास्त्र द्वारा इन सब प्रवृत्तियों, गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त करके ये दूषित कृत्य रोके जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र के द्वारा जनता के हितों की रक्षा होती है।

अर्थशास्त्र में संपत्ति के उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय के सिद्धान्तों का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि समाज के कल्याण के लिए किस प्रकार संपत्ति की अधिक-से-अधिक वृद्धि की जाय तथा उसके विनिमय और वितरण की कैसी व्यवस्था की जाय, जिससे समाज का प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक संपत्ति का उपभोग करके अधिक-से-अधिक तृप्ति, संतोष प्राप्त कर सके और जिससे समाज का अधिक-से-अधिक हित हो। अर्थशास्त्र के द्वारा दरिद्रता और उसके मूल कारणों को जान कर उनके दूर करने और जनता में अधिक सुख-सन्तोष को फैलाने से ही समाज का हित-साधन हो सकता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से जनता की ग़रीबी के कारण और उन्हें दूर करने के उपाय तथा जन-साधारण के हितों की रक्षा और खुशहाली के बढ़ाने में सहायता मिलती है। प्रत्येक देश के सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों में से कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जो बिना अर्थशास्त्र की सहायता के हल हो नहीं सकते। अर्थशास्त्र के अध्ययन से दो तरह के लाभ होते हैं—(१) सैद्धांतिक और (२) व्यावहारिक।

(१) सैद्धान्तिक लाभ—

अर्थशास्त्र संपत्ति से संबन्ध रखनेवाले मानव-जीवन और समाज के यथार्थ और जीवित तथ्यों का विचार करता है। उसे इन तथ्यों का सावधानी से निरीक्षण करना पड़ता है। तात्कालिक और महत्त्वपूर्ण दूरवर्ती कारणों की खोज करनी पड़ती है और तब किसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है। इस प्रकार इस शास्त्र के द्वारा सतर्क निरीक्षण, धैर्ययुक्त विश्लेषण और उचित तर्क का अभ्यास पड़ जाता है। सामाजिक जीवन और मानवीय चालकों की पेचीदगी और इस शास्त्र के यथार्थ विषय के कारण, मानवीय शक्तियों, के शिक्षण और अभ्युन्नति की दृष्टि से अर्थशास्त्र का दर्जा बहुत ऊँचा हो गया है।

(२) व्यावहारिक लाभ—

(क) अर्थशास्त्र से उपभोक्ता, उत्पादक, व्यापारी, राजनीतिज्ञ आदि सभी को व्यावहारिक कामों में बहुत सहायता मिलती है।

(ख) मज़दूरों को अपनी उन्नति और हित के लिए सहयोग, संगठन, पारस्परिक सहायता करने और निर्भरता का अभ्यास करने तथा अपने अधिकारों को समझने और उनके निमित्त देश-काल के अनुसार उचित शस्त्र से काम लेने की शिक्षा मिलती है।

(ग) बहुत ही गूढ़ सामाजिक प्रश्नों को हल करने में सहायता मिलती है। यथा—(१) आर्थिक स्वतंत्रता से होनेवाले लाभ कैसे बढ़ाए जा सकते हैं और हानियाँ कैसे घटाई जा सकती हैं। (२) वर्तमान उद्योग-धन्धों में वैयक्तिक और सामूहिक कार्य के उचित संबन्ध का प्रश्न जनता के हित की दृष्टि से कैसे हल किया जा सकता है। (३) संपत्ति के उपभोग के उचित रीति-सम्बन्धी प्रश्न कैसे हल हो सकते हैं। (४) संपत्ति के और अधिक समान

वितरण के और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के ऊपर कर के भार के प्रश्न कैसे सुलझाए जा सकते हैं। (५) ग़रीबी और उससे होने वाले अनर्थों के क्या उपाय हो सकते हैं। (६) संसार-व्यापी, तेज़ी, मन्दी, व्यापारिक और औद्योगिक विशृंखलता और अव्यवस्था के कारण और उपाय तथा बेकारी के प्रश्नों को कैसे सुलझाया जा सकता है।

आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान का प्रभाव

(डा० रामरत्न भटनागर एम० ए०, पी-एच० डी०)

सभ्यता का देश, काल और संस्कृति से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है, अतः देश, काल और संस्कृति की परम्परा से परे, किसी भी एक सार्वभौमिक-सभ्यता की बात ही भूल है। आज हमारे संसार में कितने ही प्रकार की सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न देशों में चल रही हैं। एक देश में भी कहीं-कहीं कई सभ्यताएँ हैं—आहार-विहार, पारस्परिक व्यवहार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण के कई ऊँचे-नीचे धरातल हैं। इसलिए एक वचन में 'आधुनिक सभ्यता' का कोई अर्थ नहीं होता। भूलवश या प्रमादवश योरुपीय सभ्यता को ही आधुनिक सभ्यता कह दिया जाता है। आज संसार के एक बहुत बड़े भूभाग पर योरुपीय जाति के लोग शासक के रूप में इस सभ्यता का झंडा ऊँचा उठाये हुए हैं। जहाँ-जहाँ वे गये हैं, वहाँ-वहाँ की सभ्यताओं को इस नई सभ्यता से मुठ-भेड़ लेनी पड़ी है। अन्त में शासितों की पराजित भावना के कारण इस विदेशी सभ्यता की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया है और शासितों का एक वर्ग इसे ही अपनी सभ्यता मानकर अपनी धरोहर समझ रहा है।

इस पश्चिमी सभ्यता की मूल बात है—ऐहिकता की प्रधानता। यहाँ परलोक की ओर दृष्टि नहीं है। इसी लोक से जो सध सके, वह

साधा जाय। धर्म को जीवन-व्यवहार से अलग रक्खा जाता है। इसी से कलाओं के प्रति इस सभ्यता का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सौंदर्यमूलक है। पिछले १५०-२०० वर्षों में इसने विज्ञान का सहारा लेकर नवीन-नवीन आविष्कारों के बल पर मनुष्य के ऐहिक सुखों के साधनों में वृद्धि की है और उन्हें लोक-सुलभ कर दिया है। इन वर्षों में आविष्कारों की संख्या प्रतिवर्ष शतशः रही है। इनके द्वारा जीवन-यापन के नए ढंग खुले, आहार-विहार के नए मार्ग मिले, यातायात और आवागमन में अत्यन्त चमत्कारक सुविधा हुई। यदि पूर्वपुरातन काल के महर्षि नारद एक बार पर्यटन करते हुए फिर इस भगवती वसुन्धरा पर उतर आएँ, तो आज के नगरों की चहल-पहल को राक्षसों का माया-जाल समझें। विज्ञान ने महान् अवकाश को रेलों, तारों, हवाई-जहाजों और पानी में चलने वाले स्टीमरों के द्वारा बाँध दिया है और समय (काल) पर नियंत्रण किया है। आज देश-देश एक सूत्र से मिल गये हैं। मनुष्य के जीवन के वर्ष तो नहीं बढ़ पाये हैं, परन्तु सुविधा मिले तो आज का मनुष्य उतना काम कर सकता है जितना विज्ञानपूर्व-संसार का मनुष्य अपने दस जीवनों में भी न कर पाता। विज्ञान ने मनुष्य की भौतिक, आधिभौतिक और दैहिक दुःख-शृंखला को बहुत कुछ शिथिल कर दिया है और सम्भव है कि भविष्य में कभी वह समय आजाय, जब न रोग-शोक के ही दर्शन हों, न अकाल मृत्यु के। पश्चिमी सभ्यता इस सबके लिए हमारे धन्यवाद की पात्र है। पिछली ही शताब्दी की साधना ने मनुष्य को बीसियों शताब्दियों आगे बढ़ाया है—यदि आगे बढ़ना यही है कि भौतिक सुखों और सुविधाओं के अधिकाधिक साधन इकट्ठे हो जायें। उसकी नीयत पर भी सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि उसने इन आविष्कारों के फल को सर्व-सुलभ कर दिया है—किसी एक वर्ग के हाथ में ये उनके

ही होकर नहीं रह गये ।

परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, पश्चिमी सभ्यता की मूल बात थी ऐहिकता । इसी से ऐहिक सुख की साधना के लिए ही विज्ञान का प्रयोग किया गया । ऊँचे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल को ऊसर ही छोड़ दिया गया । फल यह हुआ कि भौतिक सुविधाएँ तो आज हमें इतनी प्राप्त हैं कि हम देवता हैं, परन्तु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरातल में राक्षसों के समकक्ष । बाहर से देवता और भीतर से राक्षस । देह की साधना और बुद्धि के कौशल ने हृदय और आत्मा को पंगु कर दिया है ! हम जिस तेज़ी से विज्ञान के संसार में बढ़े, उस तेज़ी से न हमारी भावनाएँ परिष्कृत हुई, न आध्यात्मिक गुणों का विकास हुआ । फल जो है, वह हम आज के विश्व-व्यापी महाभारत के रूप में देख चुके हैं ।

आधुनिक सभ्यता पर विज्ञान ने जो प्रभाव डाला है, वह भौतिक सुविधाओं और सुखों तक ही सीमित है । मनुष्य प्रकृति पर विजयी हुआ है । अब वह तत्वों से सफलतापूर्वक लड़ सकता है । आज आधुनिक सभ्यता में पला हुआ मनुष्य अच्छा खा सकता है, अच्छा पहन सकता है । उसे हमारे पूर्वजों से कहीं अधिक आराम है । परन्तु साथ ही नैतिकता का ह्रास हुआ है । मनुष्य जीवन की महत्ता की बात उड़ गई है । भयंकर वैज्ञानिक शस्त्रों की सहायता से क्षण भर में अश्रुत संहार का ताण्डव नृत्य हो सकता है और उनका प्रयोग करनेवाला निर्द्वन्द्वभाव से इस संहार को देख सकता है । जिन महावैज्ञानिकों के हाथ में नये आविष्कार पड़े, उनके लिए मनुष्य-जीवन की अमूल्यता का कोई प्रश्न ही नहीं था । वे पश्चिमी सभ्यता की ही उपज थे जहाँ लौकिकता, दैनिक जीवन के संघर्ष, राष्ट्रीय और जातीय स्वार्थों का बोलबाला था । उन्होंने भयंकर हथियारों से अपने राष्ट्रों को सुसज्जित किया और उनके सहारे वे राष्ट्र दिग्विजय को निकल

पड़े। कल तक उन्होंने यश, धन, आत्मतृप्ति सब कमाए। आज विज्ञान उनके हाथ से निकल गया है। वह अब सेवक नहीं, स्वामी है। वह नाश की ओर बढ़ रहा है। विज्ञान ने जिस सभ्यता को चमकाया, वह आज संकट में है। डुबकी मारने वाले बमबाज़, लड़नेवाले बमबाज़, बम, तोपें, ज़हरीली गैसें, पनडुब्बियें— इनके सामने आज सभ्य मनुष्य बेवस खड़ा है। भस्मासुर ने सहस्रों वर्षों तक तप किया। भोलानाथ भगवान् शंकर ने प्रकट होकर कहा—वर माँग! उसने कहा—देवादिदेव, महादेव, मुझे यह वरदान दो कि मैं जिसके सिर पर हाथ धर दूँ, वह भस्म हो जाय। शंकर ने कहा—एवमस्तु! भस्मासुर उनके वरदान की सत्यता की परीक्षा करने के लिए उन्हीं की ओर दौड़ा। सहज-प्रसन्न होने वाले भगवान् आशुतोष ने बड़ी दौड़-धूप के बाद जान बचाई। आज विज्ञान भस्मासुर बन गया है। आधुनिक सभ्यता की कड़ी परीक्षा हो रही है।

पिछले दो दशाब्दों में विज्ञान की उन्नति ने आधुनिक सभ्यता को एकदम बर्बरता की ओर ढकेल दिया है। फल यह है कि आज हम प्रागैतिहासिक काल के जंगलियों की तरह गुफ़ाओं में रहने लगे हैं। हमने विज्ञान के श्रेष्ठतम आविष्कार (विद्युत्) के होते हुए भी बमों के भय से अंधकार में रहना स्वीकार कर लिया। जिन चाँदनी रातों की प्रशंसा में कवियों और ऋषियों ने ग्रन्थ भर दिये हैं, वे आज हमें मृत्यु की संदेशवाहिका जान पड़ती हैं— शत्रु के बमबाज़ चाँदनी में अच्छा निशाना लगाते हैं। आज विज्ञान सभ्यता का गला घोंट रहा है।

विज्ञान ने मनुष्यता के विकास को धक्का पहुँचाया है। अब समय आ गया है कि आधुनिक सभ्यता कह दे—इतना विज्ञान, और नहीं चाहिए। इतना विज्ञान रहे, इतना नष्ट हो जाय। आज विज्ञान और सभ्यता में जीवन के लिए दौड़ चल रही है। यदि

विज्ञान विजयी हुआ तो सभ्यता का कोई ठिकाना नहीं। या तो सर्वनाश निश्चित है, या मनुष्य बर्बरों की तरह—इतिहासपूर्व पुरुष की तरह—खाइयाँ खोद कर, गुफ़ाएँ बनाकर, निरन्तर अंधकार में रहेगा। सभ्यता की उन्नति का अर्थ होना चाहिए पारस्परिक सहयोग की भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि, मानव-जीवन की श्रेष्ठता की स्वीकृति। वह तो हृदय की साधना है। विज्ञान में है केवल बुद्धि की साधना, जो अन्ततः केवल स्वार्थ-साधना तक सीमित रह जाती है। जिस सभ्यता का केवल यही आदर्श रहा हो कि वहाँ केवल प्रकृति पर विजय प्राप्त हो, हृदय लुण्ठित पड़ा रहे, उस सभ्यता का अंत पाशविकता में होगा, यह निश्चित है। आज मनुष्य भी अपनी बुद्धि की उपज मशीन की तरह एक मशीन-मात्र रह गया है—आत्मा का तो नाम मत लीजिए, हृदय का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। योरुप के प्रसिद्ध विचारक श्री एच. जी. वेल्स. ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (The Fate of the Homo Sapiens) में चेतावनी दी है—यदि मानवता की रक्षा करनी है तो बुद्धि, हृदय और मन का सन्तुलन चाहिए। आधुनिक सभ्यता का विकास एकांगी है। विज्ञान के प्रभाव में आकर उसने बुद्धि को पकड़ लिया, हृदय और मन की साधना को तिरस्कृत किया।

पत्र-कारिता

(श्री राजेन्द्र एम० ए०)

समाचारपत्र का जीवन में कितना प्रभाव है, इस विषय में एक लेखक ने कहा है कि, "प्रैस जनता की वह पार्लिमैंट है जो सदैव ही काम करती रहती है और जिसका अधिवेशन कदापि स्थगित नहीं होता"।

मानव-जीवन के बौद्धिक विकास के समानान्तर उस क्रिया की प्रगति भी होती रही है, जिसका सर्वथा समुन्नत रूप हम आधुनिक समाचारपत्र अथवा प्रेस में देखते हैं। जब न छापने की मशीन थी और न कागज़ था, उस युग में भी राजाज्ञाओं और आदेशों को प्रकाशित तथा वितरित करने का प्रयत्न किया जाता था। शिला-लेखों और स्तम्भ-लेखों द्वारा, ऐतिहासिक काल के अतीत युग में, ईसवी सदी के पूर्व, तत्कालीन सभ्य देशों में जनता को सरकार की आज्ञा तथा प्रजा के कर्तव्य का ज्ञान कराने की परिपाटी रही है। मिश्र में, ईरान में, भारत में, राजाज्ञाओं के ऐसे उपलब्ध अभिलेखों से हम आवश्यक बातों का प्रकाशन तथा उनकी सूचना देने की मनोवृत्ति की झलक पाते हैं। जूलियस सीज़र के समय में रोम में आजकल के समाचारपत्र का प्रारम्भिक रूप पाया जाता था, जिसे 'ऐक्टा डायूर्ना' कहते थे। रोम में एक यह भी प्रथा थी कि सार्वजनिक स्थानों में नागरिक-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले समाचार लिखकर चिपका दिए जाते थे।

जगत् का सर्वप्रथम समाचारपत्र कहाँ प्रकाशित हुआ यह कहना कठिन है; पर कुछ विद्वानों के मतानुसार सन् १६४० ई० में चीन में 'पैकिंग गज़ेट' के नाम से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुआ करती थी जिसको इतिहास का सर्वप्रथम समाचारपत्र माना जाता है।

मध्यकालीन भारत में मुगल-सम्राट् और दूसरे बड़े-बड़े राजा तथा शासक समाचार-संग्रह का प्रबन्ध करवाया करते थे। राज-दरबार में एक विशेष विभाग होता था जो हर प्रान्त या ज़िले में नियुक्त 'वाकिया-नवीस' (संवाद-लेखक : घटना-लेखक) द्वारा भेजे हुए समाचारों का सार संकलित करके सम्राट् को प्रस्तुत किया करता था।

आधुनिक काल में प्रेस का विकास योरुप— विशेषतः ब्रिटेन—

में जनतंत्रवाद के आन्दोलन के साथ ही शुरू होता है। सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटेन की पार्लिमैंट ने ब्रिटेन के राजा पर गृह-युद्ध में विजय पाई और परिणाम-स्वरूप प्रेस-स्वातंत्र्य का मौलिक अधिकार ब्रिटेन के राष्ट्रीय जीवन और राजनैतिक विधान का एक अनिवार्य अंग बन गया।

भारत में पत्रकारिता के 'आदिपुरुष' अँग्रेज़ पत्रकार थे जो अठारहवीं शताब्दी में इस देश में आए। इनमें जेम्स आगस्टस हिँकी[1] और विलियम डियुएन[2] सरीखे निर्भीक पत्रकारों के नाम प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इन्होंने तत्कालीन शासकों अर्थात् ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की काली करतूतों का भांडा फोड़ कर वारेन हेस्टिंग्ज़ आदि स्वेच्छाचारी तानाशाहों को मजबूर किया कि वे इन्हें कारावास में भिजवा दें या हिन्दुस्तान से निर्वासित कर दें। इन महारथियों का संघर्ष उस समय के अधिकारीवर्ग के साथ चला ज़रूर था, लेकिन यह झगड़ा अँग्रेजों के आन्तरिक मतभेदों तक ही सीमित था और इस देश की निरीह और निरस्त्र जनता को इससे लेशमात्र भी दिलचस्पी न थी। तथापि इन पत्रकारों ने निर्भीकता और कर्तव्य-परायणता का वह आदर्श प्रस्तुत किया जिससे भारतीय पत्रकारों की पीढ़ियाँ उत्प्रेरणा प्राप्त करती रही हैं।

भारतीय पत्रकार-कला की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन के अनुरूप ही समाचारपत्रों का प्रभाव-क्षेत्र अथवा सम्पादन-प्रणाली विकसित हुई है। इसका कारण केवल यही है कि स्वातंत्र्य-संग्राम के सेनानियों और जन-नायकों

१. हिँकी का पत्र २९ जनवरी १७८० ई. को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।
२. १७९१ में 'बंगाल जर्नल' का एक आयरिश-अमेरिकन सम्पादक जिसने भारत में काम करना पसंद किया।

को अपने कार्य की सिद्धि के लिए पत्रकारिता के क्षेत्र का अवलंब लेना पड़ा। सन् १८१८ ई० में राजा राममोहनराय की सहायता से तथा उनके नेतृत्व में भारतीय भाषा में प्रथम भारतीय पत्र "बङ्गाल गजेट" प्रकाशित हुआ और हमारी आँखों के सामने राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी ने "यंग इण्डिया" और "हरिजन" आदि पत्रों और पत्रिकाओं को राष्ट्रीय-जागृति के मुख-पत्र बना कर देश के कोने-कोने में स्वातंत्र्य-सन्देश सुनाया।

भारतीय-पत्रकारिता के पिछले १००-१२५ वर्षों के इतिहास को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मस्तिष्क के चित्रपट पर अनेकों "दिग्गजों" के चित्र चलते और हटते नज़र आयेंगे और जिज्ञासु राजा राममोहनराय सरीखे समाज-सुधारकों, श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे राजनैतिक सेनानियों और पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय और भगवान्-तिलक के समान कर्मयोगियों के पुनीत-पावन दर्शनों से कृतार्थ होगा। इन राष्ट्र-निर्माताओं ने अपने तप और निष्ठा से भारतीय पत्र-कारिता को धन कमाने के धंधे के निम्न स्तर से उठाकर एक बलिदान-मयी साधना की उच्च पदवी प्रदान की।

आधुनिक-काल में समाचार-पत्र उन तमाम माँगों को पूरा करता है जो जन-तंत्रीय राज-व्यवस्था में लोक-मत के वाहन और परिचायक पर की जा सकती हैं। कभी ज़माना था कि समाचार-पत्र बड़े-बड़े सामन्तों, पूँजीपतियों वा सत्ताधारियों की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए ही निकाला जाता था। अब समाचार-पत्र जन-साधारण की धरोहर है। जिस समाचार-पत्र की बीस या पच्चीस लाख प्रतियाँ एक या दो करोड़ की कल्पनातीत संख्या में पाठकों के हाथों में जाती हों, वह अनिवार्य रूप में ऐसा होगा कि इतना बड़ा जन-समूह अपनी रुचि और आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामग्री प्राप्त कर सके। इसीलिए आज का समाचार-पत्र जन-वर्ग का सब कुछ है—जनता का माता-पिता, स्कूल-कालेज,

शिक्षक, थियेटर, आदर्श और उत्प्रेरक, परामर्शदाता और साथी सब कुछ है।

ऑस्कर वाईल[1] नामक एक प्रसिद्ध लेखक ने समाचार-पत्रों की शक्ति के विषय में खूब कहा है—"शायद बर्क का यह विचार था कि समाचार-पत्र "चौथा शक्तिस्तम्भ"[2] है। अपने समय की परिस्थिति के अनुसार बर्क का यह मत न्याय-संगत होगा। किन्तु आजकल तो प्रैस ही एक-मात्र समाज-स्तम्भ है, क्योंकि अन्य तीनों शक्तियों को वह अकेले ही हज़म कर गया है। राजा बोलता नहीं। धार्मिक अधिकारी कुछ बोल सकते नहीं और पार्लिमैंट के पास कुछ कहने को ही नहीं, तथापि वह कुछ कह ही देती है। इस युग में तो हम समाचार-पत्रों की सर्वाङ्गीण और सार्वभौमिक प्रभुता ही देखते हैं। अमेरिका में वहाँ का राष्ट्रपति केवल चार वर्ष के लिए सिंहासन पर बैठता है, किन्तु समाचार-पत्रों का शासन निरन्तर चलता ही रहता है।"

(२)

समाचार-पत्रों का विशेष उद्देश्य मुख्यतः समाचारों का संकलन और उनका प्रकाशन ही होता है। ब्रिटेन तथा अमेरिका के पत्र सम्पादन-कला में सब से ऊँचे स्तर की मर्यादा स्थापित कर चुके

---

१. ऑस्कर वाईल (१८५६–१९००)— एक प्रसिद्ध आयरिश साहित्यकार और समालोचक जिसने ब्रिटेन की पत्रकारिता में असाधारण ख्याति प्राप्त की।

२. पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि सामाजिक जीवन की चार बुनियादें हैं —राजा, पार्लिमैंट, धार्मिक अधिकारी (चर्च) और प्रैस। इन्हें अँग्रेजी में 'फोर एस्टेट्स' कहा जाता है। प्रैस 'चौथी एस्टेट' है। एस्टेट का शब्दार्थ रियास्त या जागीर है। यहाँ 'एस्टेट' का अभिप्राय समाज-स्तम्भ के अर्थ में है।

हैं। इन देशों के लोक-प्रिय पत्रों को देखने से आपको ज्ञात हो जाएगा कि उनके सम्पादकीय-स्तम्भ जिनमें सम्पादक अपने विचार प्रकट करता है, क्रमशः संक्षिप्त होते जा रहे हैं। सम्पादकीय लेख अपना महत्त्व और प्रभाव रखते हैं लेकिन, फिर भी, उनका कलेवर धीरे-धीरे संक्षिप्त होता जा रहा है। समाचार-पत्र की सब से बड़ी उपयोगिता समाचार देने में ही है और दूसरी तमाम बातें गौण-स्थान रखती हैं।

समाचार क्या है? समाचार की लेखन-विधि क्या है? इन दो प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर में पत्रकारिता का 'गुरुमन्त्र' निहित है। समाचार की व्याख्या करते हुए एक अँग्रेज़ विद्वान् ने एक बहुत ही उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—"एक कुत्ता यदि किसी आदमी को काट खाय, तो यह एक साधारण-सी बात है; किन्तु यदि कोई आदमी ही किसी कुत्ते पर अपने दाँत चला दे, तो यह एक बड़ा अच्छा समाचार है।" इस दृष्टान्त का यदि तर्कानुसार विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि—"समाचार किसी ऐसी घटना या परिस्थिति के तात्कालिक और सार्वजनिक वर्णन को कहते हैं जो जनसाधारण के मनोरंजन अथवा हित-साधन का कारण बने।"

समाचार-संग्रह करना भी एक स्वतंत्र एवं सम्पूर्ण कला है। 'समाचार-बोध' या 'समाचार-चेतना' भी एक नैसर्गिक गुण है। एक सफल-संवाददाता अथवा रिपोर्टर बनने के लिए किसी ट्रेनिंग या सिखलाई से पहले यह आवश्यक है कि जिज्ञासु में एक कलाकार की प्रतिभा हो जो हानि-लाभ की सीमाओं से मुक्त होकर अपनी साधना को ही सर्वोपरि स्वीकार करे। ऐसी मनोदशा में एक विलक्षण असन्तोष कलाकार को निरन्तर प्रयत्न की ओर संकेत करता रहता है और जब तक साधक अपनी ओर से पूरी-पूरी कोशिश नहीं कर लेता, तब तक उसकी अन्तरात्मा शान्त नहीं होता।

समाचार-संग्रह के लिए 'समाचार-चेतना' के साथ-साथ अनथक परिश्रम, असाधारण धैर्य, मानसिक सजगता तथा आत्म-संयम की भी बहुत आवश्यकता है। संवाद-दाता या रिपोर्टर का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए। उसमें निर्भीकता और मिलन-सारी के गुण सोने पर सुहागे का काम कर देते हैं। कहीं भी उसने झिझक दिखाई या वह आत्म-संतुलन खो बैठा तो अपने प्रतिद्वन्द्वियों के हाथों उसकी मात निश्चित है। संवाद-दाता को कई प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। कहीं तो बड़े-बड़े नेता या अधिकारी प्रैस-प्रतिनिधियों को स्वयं बुलाकर स्पष्ट और सविस्तर समाचार दे देते हैं। धारा-सभाओं के अधिवेशनों या विशेष उत्सवों पर प्रैस-प्रतिनिधियों के लिए विशेष प्रबन्ध भी होते हैं। ऐसी अवस्था में संवाद-दाता की सफलता इसी में है कि वह थोड़े-से-थोड़े और सरल-से-सरल शब्दों में अधिक-से-अधिक समाचार अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा शीघ्र अपने समाचारपत्र को भेज दे।

कई बार ऐसी भी स्थिति होती है कि संवाददाता को अपनी समझ-बूझ और सहज-चेतना का ही आश्रय लेना पड़ता है। पोलीस के प्यादे, दफ्तरों के चपरासी, कचहरियों के हरकारे, होटलों के बैरे, कभी-कभी समाचार-संग्रह में बड़ी सहायता दे सकते हैं। लेकिन उनसे मेल-जोल पैदा करके काम निकालना अनुभव और लोक-व्यवहार में पटुता की बात है।

१६३१ में जब राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी लार्ड विलिंगडन से लन्दन में होनेवाली गोलमेज-कांफ्रेंस के विषय में बातचीत कर रहे थे, तब यह कोई नहीं बतला सकता था कि गाँधीजी विलायत जाएँगे या नहीं। गाँधीजी के निवास-स्थान और वायसराय-भवन दोनों जगह सब लोग आपस में कानाफूसियाँ ही करते दिखलाई देते थे। ट्रेन छूटने का नियत समय भी बीत गया, पर किसी को

कुछ पता न लगा। ऐसी परिस्थिति में एक प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार ने गाँधीजी के सुपुत्र श्री देवदास जी गाँधी को किसी से यह पूछते सुना कि इन दिनों लन्दन में मौसम किस तरह का होगा और वहाँ कौन-कौन सा कपड़ा लेजाना चाहिए। बस, इसी से उस पत्रकार ने अनुमान लगा लिया और अपनी समाचार-एजेन्सी को सरकारी विज्ञप्ति के प्रकाशित होने से आध-घंटा पहले यह तार भेज दिया कि गाँधीजी ने लन्दन जाना स्वीकार कर लिया है। इस तरह वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों से खूब शानदार बाज़ी ले गया।

समाचार लिखने की अपनी ही शैली होती है। एक अंग्रेज़ लेखक का कथन है कि "समाचार स्त्रियों की चोली की तरह इतना छोटा होना चाहिए कि सबका ध्यान आकर्षित कर सके और इतना बड़ा भी, कि निर्दिष्ट विषय को ढाँप ले।" कुशल संवाद-दाता अपनी रिपोर्ट के पहले ही वाक्य में सारी घटना या जानकारी का निष्कर्ष सरल, संक्षिप्त परन्तु आकर्षक एवं प्रभावशाली शब्दों में भर देते हैं। पीछे, अपनी रिपोर्ट का शेष भाग सुविधा-अनुसार दूसरे वाक्यों में क्रम-पूर्वक लिखते हैं।

(३)

कई लोग तिरस्कार-पूर्वक यह कह देते हैं कि 'क्या रक्खा है इस अख़बार में?' शायद वे कभी यह अनुभव नहीं करते कि छः पैसे या दो आने में बाज़ार से उतना तो कोरा काग़ज़ भी नहीं मिल सकता जितना समाचार-पत्र की एक प्रति में लगा होता है। इस काग़ज़ पर आपके अपने शहर, प्रान्त, देश और संसार भर के नवीनतम समाचार विशेष विधि और व्यवस्था के अनुसार आपके मनोरञ्जन और जानकारी के लिए प्रकाशित किए जाते हैं। मुख्य-मुख्य घटनाओं को रोचक बनाने के लिए चित्र और व्यंग्यचित्र (कार्टून) दिए जाते हैं। लोकमत के पथ-प्रदर्शन के लिए अग्रलेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ और 'नोट' होते हैं। एक-

दो स्तम्भों में पाठकवृन्द अपनी शिकायतों या माँगों का उल्लेख करते हैं। कभी-कभी कोई प्रमुख लेखक या प्रसिद्ध नेता सामयिक समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त 'विशेष संस्करणों' में गल्प, सिनेमा, नारी-संसार, बाल-सभा या समालोचना आदि पर "फ़ीचर" या विशेष लेख पढ़ने को मिलते

रात्रि के समय जब आप अपने प्रिय-जनों से मधुर-मिलन एवं सुख-सम्भाषण का आनन्द ले रहे होते हैं और पीछे निद्रा-देवी की गोद में सुन्दर सपने देख रहे होते हैं, उस समय पत्र-प्रतिनिधि स्थान-स्थान के समाचार इकट्ठे करके भेज रहे होते हैं। उसी समय—आधी रात के समय—सम्पादकीय विभाग में उनका सम्पादन होता है और वे प्रकाशित होने के लिए तैयार किए जाकर 'कापी'[1] के रूप में प्रेस में पहुँचते हैं। इसके बाद जब वे छप जाते हैं, तब वर्षा हो या शीत, अख़बार बेचनेवाले छोकरों की सेना उन्हें लेकर चल निकलती है।

समाचारपत्र रूपी रथ के सारथी को 'सम्पादक' कहते हैं। जहाँ उसे जनमत का रचयिता होने का श्रेय प्राप्त है, वहाँ वह पत्र में प्रकाशित एक-एक शब्द का उत्तरदाता समझा जाकर बहुधा सरकार के प्रकोप का लक्ष्य बनता है और शक्तिसंपन्न व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के विरोध का भाजन बन जाता है।

प्रधान संपादक दिन भर के अख़बारों को ध्यानपूर्वक पढ़कर इन सब प्रश्नों पर विचार करता है कि उसके अपने पत्र में क्या-क्या विशेष ख़बर निकली है और कौन-कौन छूट गई है। आज किस ख़बर पर विशेष ध्यान देना है। आज का अग्रलेख

---

१. जो मसाला छपने के लिए प्रेस में भेजा जाता है, उसे 'कापी' कहते हैं।

क्या होगा और आज कौन-कौन से फ़ीचर जा रहे हैं। इन सब प्रश्नों के संबन्ध में वह अपने सहकारी समाचार-संपादक या अन्य उपसंपादकों को उचित निर्देश देता है।

संपादकीय विभाग में जाकर देखें तो संसार भर से खबरें बराबर आ रही हैं। कोनों में लगे हुए पी० टी० आई[1] अथवा

१. पी० टी० आई० (प्रैस ट्रस्ट आफ इण्डिया), भारत में समाचार संग्रह करनेवाली सबसे बड़ी एजेन्सी। इसका पुराना नाम ए० पी० आई० (एसोसिएटिड प्रैस आफ़ इण्डिया) था। पहले यह विश्व-विख्यात 'रायटर' एजेन्सी की वह शाखा थी जो भारत के आन्तरिक समाचारों का संकलन और वितरण करती थी। इस पर अंग्रेज़-शासकों और पूँजीपतियों का आधिपत्य था। आजकल यह एजेन्सी पी० टी० आई० के नाम से भारतीय समाचारपत्रों के अधिकार में है।

रायटर एजेन्सी के प्रतिनिधि संसार भर के बड़े-बड़े नगरों, राज-धानियों तथा समाचार-केन्द्रों में नियुक्त होते हैं और वे महत्त्वपूर्ण घटना-स्थलों पर पहुँचकर टेलिफोन, रेडियो या तार द्वारा रायटर के कार्यालय में समाचार भेजते हैं। वहाँ से विभिन्न देशों एवं पत्रों को उनकी आवश्यकता के अनुसार समाचार भेजने की व्यवस्था की जाती है। इस एजेन्सी के परिचालक का इतिहास भी बहुत रोचक है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी के केसल नामक स्थान में जूलियस रायटर नामक यहूदी एक बैंक में क्लर्क था। उसने व्यापारियों की सुविधा के लिए बाज़ार की दरों के उतार-चढ़ाव के समाचार अविलंब पहुँचाने के लिए यह व्यवस्था की कि जहाँ तार आदि की सुविधा न थी वहाँ कबूतरों को समाचार लेकर भेजा। इसका यह प्रयास सफल हुआ। पीछे जर्मनी में राजनैतिक परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण इसने लन्दन में आकर विशाल प्रयत्न के रूप में अपना काम शुरू किया। वह रायटर ने शुद्ध समाचार के क्षेत्र में पदार्पण किया और आशातीत सफलता प्राप्त की।

यू० पी० आई०[१] के टेलिप्रिंटर[२] खट्-खट् कर रहे हैं । टेलिफोन की घंटी बार-बार बज उठती है। तारघर से तारें चली आ रही हैं। डाक का पुलिन्दा अलग सामने धरा है जिसमें पत्रों और चिट्ठियों के साथ सरकारी सूचना-विभाग द्वारा भेजे हुए पत्र-पत्रिकाओं, लेखों और विज्ञप्तियों का कोई अन्त नहीं ।

जीवन की सारी विविधता और विभिन्नता को समेटकर समाचारपत्र में चारों ओर से ख़बरें आती हैं— इधर संयुक्तराष्ट्र से कोई समाचार आया तो उधर दिल्ली में संविधान-सभा की बैठक हो रही है; बंबई से क्रिकेट-मैच की रिपोर्ट आई तो

---

१. यू० पी० आई० (यूनाइटिड प्रैस आफ इण्डिया)—१६३३ में श्री बी० सेन गुप्त की अध्यक्षता में इस समाचार-एजेन्सी की स्थापना हुई। भारतीय पत्रों के राष्ट्रवादी दल ने यह अनुभव किया कि ए० पी० आई० या रायटर स्वातंत्र्य-आन्दोलन में न केवल कोई सहायता नहीं देता, अपितु साम्राज्यवाद का पोषक बनकर विरोध करता है। इस-लिए यू० पी० आई० की स्थापना हुई।

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध भारतीय पत्रकार श्री सदानन्द का 'फ्री प्रैस आफ़ इण्डिया', भी इसी क्षेत्र में कार्य करता रहा है।

इस प्रकार की समाचार-संग्रह तथा वितरण करनेवाली एजेन्सियाँ सभी देशों में हैं। अमेरिका में "यूनाइटिड प्रैस आफ अमेरिका" और "एसोसिएटिड प्रैस आफ अमेरिका" बहुत प्रसिद्ध हैं। रूस की एजेन्सी को 'तॉस' समाचार-एजेन्सी कहते हैं।

२. टेलिप्रिंटर—जिस प्रकार टेलिफोन के द्वारा दूर की आवाज़ सुनाई देती है वैसे ही टेलिप्रिंटर मशीन के द्वारा दूर के समाचार स्वतः ही टाइप होते रहते हैं। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में पी. टी. आई. या यू. पी. आई. के कार्यालयों में मशीन पर टाइप करने से समाचार अन्यत्र समाचारपत्रों के दफतर में—जहाँ टेलिप्रिंटर लग हो—स्वतः ही टाइप होकर प्रस्तुत हो जाते हैं।

स्थानीय बाज़ार में किसी लड़ाई-झगड़े की ख़बर मिली; इधर व्यापार-संबन्धी ख़बरें आ रही हैं तो उधर किसी व्यक्ति के मकान या कारख़ाने में आग लग गई है; कहीं से मजदूरों की हड़ताल की ख़बर आ रही है तो कभी कोई दुखिया स्वयं ही रोता-पीटता अपनी करुण-कथा सुनाने के लिए अख़बार के दफ़्तर में चला आ रहा है; इतने में टेलिफ़ोन बोल पड़ा कि अमुक स्थान पर रेलों की टक्कर हो गई और इतने मरे और इतने घायल।

उप-संपादकों का एक पूरा दल इन समाचारों को छाँटता है—कौन-सी ख़बर, कितनी, कब, और कैसे अख़बार में जायगी इसका फ़ैसला करता है ख़बर की अशुद्धियाँ दूर करके, उसमें काँट-छाँट करके उसमें कुछ आवश्यक, नई और प्रासङ्गिक बातें जोड़कर उसे अख़बार में छापने-योग्य बनाता है; ख़बरों पर सारपूर्ण और आकर्षक शीर्षक जमाता है और फिर छापने-वालों को निर्देश देता है—अमुक ख़बर मोटी और "सजावटी टाइप" में छपेगी और अमुक ख़बर साधारण टाइप में। यह काम समाप्त करने के बाद समाचार-संपादक प्रैस में जाता है। यहाँ उसे उपसंपादकों द्वारा भेजी हुई 'कापी' कम्पोज़[१] हुई मिलती है। साथ ही समाचारपत्र के मैनेजर द्वारा भेजा हुआ एक

१. 'कम्पोज़ करना'—टाइप में बिठाने को कहते हैं। पहले हाथ से ही कम्पोज़ किया करते थे। आधुनिक प्रैसों में 'लाइनोटाइप' या 'मोनो-टाइप' की मशीनें होती हैं, जिन पर साधारण ढंग से टाइप करने से सिक्के के अक्षर या पंक्तियाँ बन कर निकल आती हैं। 'मोनोटाइप' एक-एक अक्षर बनाती है और 'लाइनोटाइप' से एक-एक लाइन या पंक्ति बन जाती है। समाचार-पत्रों में प्रायः 'लाइनोटाइप' से ही काम होता है। कम्पोज़ की हुई सामग्री की अशुद्धियाँ निकालने के लिए 'प्रूफ़' नकाले जाते हैं।

नक्शा या नमूना[1] मिलता है, जिसमें यह दिखाया होता है कि आज के अख़बार में कहाँ-कहाँ समाचार तथा दूसरी पाठ्य-सामग्री रहेगी और कहाँ-कहाँ—किस-किस पन्ने के किस-किस कालम में—'विज्ञापन' प्रकाशित होंगे। समाचार-संपादक इन नक्शों के अनुसार अपने पत्र के पन्ने बनाता है। इस प्रक्रिया को अंग्रेज़ी में 'पेज-मेक-अप' कहते हैं। पन्ने बनाने में मोटी और बारीक टाईप, चित्रों, कार्टूनों, महत्वपूर्ण एवं छोटी या लंबी ख़बरों की उचित व्यवस्था का ख़ास ध्यान रखा जाता है, जिससे पत्र देखने में सुन्दर लगे और आवश्यक ख़बरों की जानकारी भी सहज में हो सके।

जब पन्ने बन जाते हैं तो उन्हें लोहे के फ़र्मों में कस दिया जाता है और इसके बाद वह चमत्कार-पूर्ण प्रक्रिया होती है जिसे देख कर कोई भी मानव-मस्तिष्क की गौरवमयी सफलता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। वह प्रक्रिया मुद्रण की है—बहुत-से हाथ-पैर वाले एक ऐसे भीमकाय देवता या राक्षस की कल्पना कीजिए, जो प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ एक भयंकर आवाज़ उत्पन्न करे और हृदय की एक-एक धड़कन के साथ मीलों लम्बा काग़ज़ लीलता जाय। इसे 'रोटरी' मशीन कहते हैं। यह एक घंटे में सोलह या बीस पन्नों वाले समाचार-पत्र की बीस हज़ार प्रतियाँ छाप कर, काट कर और तह लगा कर तैयार कर देती है।

(४)

पत्रकारों का उत्तर-दायित्व कितना बड़ा है—इस प्रसंग में उन सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्हें अमेरिका की 'सोसायटी आफ़ न्यूज़ पेपर्स एडिटर्ज़' (अमेरिकन पत्र-

---

१. समाचार-पत्र के कार्यालय की परिभाषा में इसे 'डम्मी' कहते हैं।

सम्पादकों की प्रतिनिधि-संस्था) ने पत्रकारों के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत किया है —

"......समाचार-पत्रों का सर्वप्रथम कर्तव्य लोकमत का प्रतिनिधित्व और मानवता के जीवन को उसकी समूची सार्थकता और असफलताओं के साथ प्रतिबिम्बित करना है। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए पत्र-कारिता एक प्रखर प्रतिभा और असाधारण नैसर्गिक अथवा सीखी हुई योग्यता की माँग करती है......"।

"......पत्रकार न केवल समाज की जानकारी के लिए घटनाओं के वृत्तान्त को लिपिबद्ध करता है, अपितु वह मानवता का परामर्शदाता और प्रतिनिधि भी होता है......"।

"......सार्वजनिक हित ही एक ऐसा हेतु है जिससे प्ररित होकर कोई भी पत्र निर्भीकता के साथ बड़ी-से-बड़ी शक्ति का विरोध कर सकता है......"।

"......प्रैस की स्वतंत्रता सारी मानवता का जन्म-सिद्ध अधिकार है और पत्रकार इस अधिकार का सतर्क और निर्भीक रक्षक है......"।

"......पत्रकारिता को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि पत्रकार अपने पाठकों से कभी विश्वासघात न करे अर्थात् उसकी लेखनी से वही शब्द निकलें जिनके सत्य एवं न्यायसंगत होने की साक्षी उसकी अन्तरात्मा दे।"

—:❀:—

लेखकों के सम्बन्ध में—

लेखकों के सम्बन्ध में—

श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७१-१९३८ ई०)

द्विवेदीजी का साहित्यिक जीवन 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में सन् १९०३ से प्रारम्भ हुआ। तब से आप बराबर लिखते ही रहे। दर्जनों पुस्तकें और पचासों लेख आपने लिखे हैं। आप हिन्दी-गद्य के 'पितामह' कहे जाते हैं।

हिन्दी-साहित्य को आप की देन के मुख्यतया चार मूर्त स्वरूप हैं-

(१) भाषा और शैली का संस्कार,

(२) अभिनव विषयों का समाहार,

(३) निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति का संचार, और

(४) पद्य में खड़ी बोली का व्यवहार।

भाषा के सुधार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का नाम अमर रहेगा। आप ने भाषा-सम्बन्धी उच्छृङ्खलता के बढ़ते हुए प्रबल वेग को बड़े साहस, सतर्कता और कड़ी आलोचना के द्वारा स्तम्भित किया और भाषा को— और लेखकों को भी— व्याकरण के अनुशासन में संयत करके हिन्दी के कलेवर को कलुषित होने से बचाया। हिन्दी की अनेक स्थानीय बोलियों के समाहार द्वारा द्विवेदी जी ने भाषा का जो साहित्यिक रूप स्थिर किया, वह सर्वत्र आदृत हुआ और आज तक चल रहा है।

जहां एक ओर द्विवेदी जी ने भाषा की वेश-भूषा को सँवारा, वहां दूसरी ओर अभिनव विषयों के समाहार द्वारा हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भी खूब परिपुष्ट किया। एक ओर अनधिकृत लिखारियों के

बरसाती मेंडकों की टैं-टैं को बन्द किया, और दूसरी ओर बीसियों वस्तुतः समर्थ लेखकों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी की ओर आकृष्ट भी किया तथा स्वयं भी दूसरी भाषाओं की उत्कृष्ट भाव-राशि का अपूर्व संग्रह किया। आप की 'बेकन-विचार-रत्नावली' हिन्दी में विचारात्मक निबन्ध-लेखन में अग्र-प्रेरणा के रूप में उपस्थित हुई। अँग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के पचासों लेखों का भावानुवाद आपने 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। अभिनव विचारों को हिन्दी के परिधान में प्रस्तुत करने की अदम्य लालसा आप में उद्दीप्त थी।

आलोचना के क्षेत्र में भी आपने पर्याप्त पथ-प्रदर्शन किया। सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन की विकृत सरणी से हटा कर आपने आलोचना को निर्णयात्मक पद्धति पर चलाया। इस विषय में आप ने कट्टरपन या पक्षपात से अलग रह कर गुण-दोष-विवेचन का मार्ग दिखाया। आप की 'कालिदास की निरंकुशता' इसी प्रकार की उदार, प्रगतिशील एवं निष्पक्ष आलोचना का अच्छा नमूना है।

पद्य में पहले प्रायः अवधी या व्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। द्विवेदी जी ने इस दिशा में भी अपनी समर्थ लेखनी उठाई और खड़ी बोली को भी पद्य का माध्यम बनाने में यथेष्ट चेष्टा की। श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि खड़ी बोली के लब्धप्रतिष्ठ महाकवि आप ही के प्रभाव से इस ओर प्रवृत्त हुए थे। आपने स्वयं भी खड़ी बोली में पर्याप्त पद्य-रचना की है।

आप की शब्दावली हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी तथा इतर भाषाओं के सुन्दर संमिश्रण को लेकर चली है। वाक्य छोटे-छोटे और नपे-तुले हैं। रचना में कहीं शैथिल्य नहीं आने पाया। विषय के अनुसार आप की शैली में तीन भेद स्पष्टतया लक्षित होते हैं:—व्यंगात्मक, आलोचनात्मक तथा गम्भीर विचारात्मक। व्यंगात्मक शैली में मनोविनोद और तीक्ष्ण व्यंगों की प्रधानता है जिन से प्रतिवादी बरबस निरुत्तर हो जाता है। आलोचनात्मक में भाषा करारी और प्रवाह

तेज़ हो जाता है। गम्भीर विचारात्मक लेखों में भाषा अधिक संयत और विचार की वशवर्तिनी रही है।

इस में सन्देह नहीं कि हिन्दी में विचार-प्रधान निबन्धों के मार्ग-दर्शन का श्रेय द्विवेदी जी को दिया जाता है। परन्तु आप के निबन्ध मुख्यतया संग्रहात्मक हैं, मौलिक नहीं। इन में ज्ञान-वृद्धि का उद्देश्य अधिक रहा है, विचार-संदीपन अथवा गूढ़ एवं सूक्ष्म पर्यालोचन कम। एक ही बात को शब्द-भेद से पाँच-छः बार दोहराने की प्रवृत्ति आप के लेखों में अधिक मिलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है.........मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे ढंग से कही गई हैं...।"

यह ध्यान में रखना चाहिए कि द्विवेदी जी के लेख प्रारम्भिक अवस्था में 'प्रारम्भिक यत्न' के रूप में लिखे गये थे। अतः उन के स्तर का प्रारम्भिक होना स्वाभाविक है। इस से हिन्दी के प्रति द्विवेदी जी की सेवाओं की गरिमा में कोई कमी नहीं पड़ती। वस्तुतः हिन्दी साहित्य आप से बहुत उपकृत हुआ है। निःसन्देह आप युग-प्रवर्तक आचार्य एवं साहित्य-महारथी थे।

श्री डा० पट्टाभिसीतारामैया (जन्म—१८८० ई०)

मसूलीपट्टम में अपनी दस वर्ष की डाक्टरी प्रैक्टिस को छोड़ कर जब आप १९१६ में 'आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' के सदस्य बने, तभी से राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में आप ने पदार्पण किया। कई वर्ष तक आप ने 'जन्म भूमि' का संचालन किया। राजनैतिक विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त कांग्रेस की हीरक जयन्ती के अवसर पर आप ने 'कांग्रेस का इतिहास' भी लिखा है। गत वर्ष आप भारतीय कांग्रेस के प्रधान थे।

आप का प्रकृत लेख आधुनिक 'समाजवाद' तथा महात्मा गाँधी जी के आदर्शों का सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस में आप ने आर्थिक दृष्टिकोण से भारत के लिए समाजवादी सिद्धान्तों की अनुपयुक्तता दिखा कर गाँधी जी के विचारों का समर्थन किया है। लेख में ज्ञान-वृद्धि तथा विचार-संदीपन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। भाषा सरल और आम बोल-चाल की है। हिन्दी की अपेक्षा इसे हिन्दुस्तानी का अच्छा नमूना कहा जा सकता है।

आप प्रायः मूल अंग्रेज़ी में लिखते हैं। आप के विचारों की उपयोगिता के कारण अब राष्ट्रभाषा में भी आप के अनेक लेख अनूदित हो चुके हैं।

प्रो० पूर्णसिंह (१८८१-१९३२ ई०)

आप उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे। टोकियो (जापान) से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के बाद आप लाहौर के 'विक्टोरिया डायमंड जुबली टैक्नीकल इन्स्टीट्यूट' के प्रिंसिपल बने और पीछे 'फ़ारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून' में प्रधान कैमिस्ट के पद पर नियुक्त हुए।

आप सन्तवृत्ति के व्यक्ति थे। वैज्ञानिक होते हुए भी दर्शन—विशेषतया वेदान्त—से आपका अत्यधिक प्रेम था। जापान में आपने बौद्ध-साहित्य का भी खूब अनुशीलन किया और अपने आपको उसी धर्म का अनुयायी कहने लगे। पीछे स्वामी रामतीर्थ जी के संपर्क से आप वेदान्त के परम अनुरागी बन गये। स्वदेश लौटने पर, भाई वीरसिंह जी के संसर्ग से आपने फिर से केस धारण कर लिये।

लिखने की लट आपको जन्म से ही थी। आपने हिन्दी, अंग्रेज़ी और पंजाबी—सब में लिखा है। हिन्दी में आपके केवलमात्र चार-पाँच ही लेख प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इन्हीं के कारण आपने हिन्दी-साहित्य में अमिट ख्याति प्राप्त कर ली है। नई लाक्षणिक शैली में नये प्रगतिशील विचारों का गुम्फन आप की विशेष देन है। आपका

प्रकृत लेख 'ब्रह्मकान्ति' हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी गद्य-रचना का सुन्दर उदाहरण है।

आपके लेखों में वाक्य-विन्यास बहुत कुछ उर्दू से प्रभावित है, पर विचारों पर वेदान्त की छाप स्पष्ट है। आपके अन्य लेखों में प्रगतिशील समाजवादी भावनाओं का प्रभाव भी दृष्टिगोचर हो रहा है। मन में देश और जाति के उन्नयन की सद्भावना प्रेरणा दे रही है। शब्द-गुम्फन में कई जगह शैथिल्य है, परन्तु विचारों की ऊंची उड़ान में और विशेषतया लाक्षणिक शैली में भाषा सदा अक्षम रहती ही है। एक अंग्रेज़ी के विद्वान् और विज्ञान के विशेषज्ञ का हिन्दी में इतनी सफलता से लिख सकना ही विशेष महत्व की बात है।

श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८३-१९४१ ई०)

शुक्ल जी ने वकालत को अपने जीवन का ध्येय बनाया था, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें साहित्यिक बना दिया। कानून की परीक्षा में असफलता ने आप को एक स्कूल में अध्यापक बनने पर विवश किया और पीछे आप 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा आयोजित 'हिन्दी शब्द-सागर' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। वस्तुतः यहीं से आपके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ होता है।

कानूनी शिक्षा के द्वारा तत्वान्वीक्षण में सुलझा हुआ दिमाग शिक्षक के अनुभव और छात्रों की मनोवैज्ञानिक सज्ञा का पूर्ण अध्ययन प्राप्त करके जब साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ, तब साहित्यिक मनन में उसका अबाध गति से प्रसृत होना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि आपके लेखों में—विशेषतया आलोचना में— गम्भीर तत्वान्वेषण और मनोवैज्ञानिक अध्ययन यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

आप गम्भीर और मननशील गद्य-लेखक थे। आपके निबन्धों में गूढ़ चिन्तन और दार्शनिक पर्यवेक्षण पाया जाता है। आलोचना में आपने द्विवेदीजी की निर्णयात्मक पद्धति का अनुसरण न करके 'व्याख्यात्मक'

पद्धति का चलन प्रारम्भ किया। इसमें ऐतिहासिक पर्यालोक और अन्तर्गत मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण का भाग अधिक रहता है। वस्तुतः आपके लेखों ने हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता तथा सूक्ष्म अभिव्यंजन की क्षमता प्रदान की है।

साहित्य-मीमांसा सम्बन्धी अनेक शास्त्रीय विषयों के अतिरिक्त आप ने मनोवेगों के सम्बन्ध में भी गम्भीर विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं और उत्साह, करुणा, श्रद्धा, लज्जा, क्रोध, ईर्ष्या आदि अनेक मनोवेगों का दार्शनिक विवेचन किया है। 'साधारणीकरण' 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' 'अभिव्यक्तिवाद' तथा रस एवं शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में भी आपने गहरी शास्त्रीय चर्चा की है और भारतीय आचार्यों के विचारों का पाश्चात्य विद्वानों के समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ सुन्दर मेल दिखाया है।

इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजी पर योरुप के १९वीं शताब्दी के साहित्य का यथेष्ट प्रभाव पड़ा दीखता है और उन्होंने बहुत्र वहीं से प्रेरणा प्राप्त की है, तथापि आपका दृष्टिकोण सदा भारतीय रहा है। आपने 'नवीन' के लोभ में 'प्राचीन' के मोह का सर्वथा परित्याग नहीं किया था। पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल के हक में आप न थे। पाश्चिमी साहित्यालोचकों की मांगी हुई पदावली को हिन्दी-पोशाक में पेश करके बड़े 'आलोचक' कहाने की चाह के आप विरोधी थे। आपने अपने लेखों और ग्रन्थों में पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल के विरुद्ध स्थान-स्थान पर चेतावनी दी है। आप एक गम्भीर तत्त्ववेत्ता के समान खरे-खोटे की परख करके पूर्व और पश्चिम का समन्वय करते थे और यही हिन्दी-साहित्य को आप की विशेष देन है।

आप की भाषा भी आप की प्रकृति के अनुसार खूब संयत है। उसमें शब्दाडम्बर या भावावेश का लेश तक नहीं। आप कहा करते थे कि गम्भीर विवेचन में कविता की शब्दावली और रूपकावली का प्रयोग करना लेखक के अपने बौद्धिक दारिद्र्य का प्रमाणपत्र है।

आपने कहीं-कहीं— अगम्भीर स्थलों में— साधारण प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है, अन्यथा आप की भाषा शुद्ध हिन्दी, संस्कृत-प्रसृत हिन्दी, है। पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने में आपने सदा संस्कृत का सहारा लिया है।

श्री सन्तराम बी० ए० (जन्म—१८८६ ई०)

आप पंजाब के एकनिष्ठ हिन्दी-लेखक हैं जिन्हों ने पंजाब में जन्म लेकर पंजाब में शिक्षा पाकर और पंजाब में ही आयु भर रहकर अपने लेखों द्वारा सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में ख्याति प्राप्त की है। यों तो पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर गुलेरी, रा० ब० डाक्टर श्यामसुन्दरदास, श्री भगवानदास केला, पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कार आदि बीसियों पंजाबी हिन्दी के प्रौढ़ लेखक हैं, परन्तु वे प्रायः पंजाब से बाहर ही रहते रहे हैं। कालेज तक तो श्री सन्तरामजी उर्दू-फ़ारसी के विद्यार्थी रहे। पीछे आर्य समाज के सम्पर्क के कारण आप में हिन्दी-प्रेम और समाज-सुधार की भावना जागृत हुई जो समय के साथ निरन्तर बढ़ती गई। आप उन कतिपय सिद्धहस्त लेखकों में से हैं, जिन्हें प्रारम्भ में द्विवेदी जी से लेखन-कला में स्फूर्ति और प्राञ्जलता की शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

समाज-सुधार और जात-पात का उच्छेद आप के प्रधान विषय हैं। वैसे इतिहास, यात्रा, नारी-शिक्षा, शिशुपालन, जीवन-चरित, संतति-निग्रह आदि अनेक विषयों पर आप की लेखनी चली है।

आप के निबन्ध समाहारात्मक अधिक हैं, मौलिक कम। उन में द्विवेदी-संप्रदाय की समाहारभावना काम कर रही है। इनके द्वारा हिन्दी पाठकों की ज्ञानराशि में अवश्य वृद्धि हुई है। हां, इतनी बात अवश्य है कि जहां द्विवेदी जी के निबन्धों में मनन और विचार-संदीपन के अंशों की कमी है, वहां आपके निबन्ध मनन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण की पुष्कल मात्रा प्रस्तुत करते हैं। समाज-सुधारक के रूप में जब आप किसी तत्त्व का प्रतिपादन या विश्लेषण करते हैं, तब

आपके तर्क और युक्तियां मस्तिष्क के लिए पर्याप्त चिन्तन-सामग्री उपस्थित करती हैं।

भाषा पर आप को असाधारण आधिपत्य प्राप्त है। इस में गति है, प्रवाह है और भाव-क्षमता है। शब्दावली सरल, पर यथार्थ, वाक्य छोटे, पर सुसंयत और शैली गम्भीर, पर सुस्पष्ट है। पंजाबी होते हुए भी 'पंजाबीपन' की झलक कहीं आने नहीं पाई।

श्री गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी०. (जन्म—१८८७ ई०)

दर्शनशास्त्र (फ़िलासफ़ी) में एम० ए० और कानून में एल-एल० बी० तक की उच्च शिक्षा, तथा एक रियासत में 'दीवान' और 'चीफ़ जज' के कार्य के अनुभव से तत्त्वालोचन एवं सदसद्विवेक की पैनी दृष्टि का आलोक लेकर जब श्रीगुलाबरायजी हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तब यह स्वाभाविक ही था कि आप अपनी निष्णात बौद्धिक सज्जा एवं परिपक्व अनुभव के द्वारा हिन्दी साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि करेंगे। और वस्तुतः हुआ भी ऐसे ही।

स्वभावतः आप की रुचि दार्शनिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों की ओर रही है। पारिभाषिक समीक्षा भी आपने खूब की है। विज्ञान, हास्य, व्यंग्य पर भी आपने कुछ लिखा है। 'कर्त्तव्यशास्त्र' 'तर्कशास्त्र' (२ भाग) 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास', आदि आप की दार्शनिक पुस्तकें हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। आलोचना में आप ने 'पूर्व' और 'पश्चिम' का समन्वय दिखाया है। 'काव्य के रूप', 'हिन्दी काव्य-विमर्श', 'हिन्दी नाट्य-विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन' आदि आप की सद्यःप्रकाशित पुस्तकें इस दिशा में गहरे अध्ययन और सूक्ष्म सूझ का परिणाम हैं।

यद्यपि आप की आलोचनात्मक और साहित्य के इतिहास सम्बन्धी रचनाओं को हिन्दी-जगत् में अभी वह स्थान नहीं मिल पाया जो आचार्य शुक्ल जी को प्राप्त है, तथापि यह निश्चय है कि निकट

भविष्य में आप की अभिनव रचनाएं अपना अधिकृत स्थान अवश्य प्राप्त करेंगी। आचार्य शुक्ल जी ने सन् १६२६ में आप के सम्बन्ध में लिखा था—"इन्हों ने लिखा तो बहुत कम है......पर इनके लेखों में भाषा की एक नई गति-विधि तथा आधुनिक जगत् की विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भावभङ्गी के दर्शन होते हैं...।"

दार्शनिक विषयों पर तो सम्भवतः आप पहले लेखक हैं जिन्हों ने हिन्दी-पाठकों की दार्शनिक अभिरुचि का परिष्कार करने की प्रथम चेष्टा की है। श्री बलदेव उपाध्याय तथा डा० देवराज भी इसी क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। हिन्दी के स्तर को ऊंचा करने तथा उसमें विचारगरिमा का समावेश करने के कारण ये महानुभाव अवश्य अपना योग्य स्थान प्राप्त करेंगे। ज्यों-ज्यों हिन्दी का अध्ययन उन्नत एवं गम्भीर होता जायगा त्यों-त्यों इन की कृतियां अधिक-से-अधिक उपयोगी सिद्ध होती जाएंगी।

'विकासवाद' डारविन के सिद्धान्तों का सुबोध एवं विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करता है जिस में एक विशेषज्ञ की मार्मिकता स्पष्ट झलक रही है। आप की भाषा निर्दोष और कृत्रिम रूपलावण्य से सर्वथा उन्मुक्त है। विचार की गम्भीरता के अनुसार ही भाषा ने भी प्रौढ़ रूप धारण किया है।

श्री भगवानदास केला तथा श्री सुन्दरलाल जी (जन्म—१८६० ई०)

श्री केलाजी हैं तो पंजाब (पानीपत) के मूलनिवासी, परन्तु मैट्रिक के बाद की आप की शिक्षा तथा समग्र कार्यक्षेत्र पंजाब से बाहर ही रहा है। अर्थशास्त्र, राजनीति एवं नागरिक शास्त्र आप की लेखनी के प्रधान विषय हैं। इन्हीं विषयों पर आप की लग-भग पचास पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रकृत लेख आप तथा श्री सुन्दरलाल जी की सांझी पुस्तक 'विश्व-संघ की ओर' से लिया गया है। इसमें जातियों एवं राष्ट्

की संकीर्ण परिधियों से ऊपर उठकर एक विशाल 'विश्वराष्ट्र' के निर्माण की आवश्यकता पर गम्भीर चर्चा की गई है। सारे लेख में सूक्ष्म मनन और गहरे चिन्तन की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

श्री सुन्दरलाल जी साहित्यिक की अपेक्षा राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध हैं। 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य', 'हजरत मुहम्मद', आदि आप की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें साहित्यिक एवं ऐतिहासिक की अपेक्षा राजनैतिक रंग अधिक है। आप ने महात्मा गाँधी जी के सहयोग से एक 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी' की भी नींव डाली थी जिस का उद्देश्य 'हिन्दू-मुस्लिम' एकता को बढ़ा कर भारत के लिए एक ऐसी संस्कृति के निर्माण करने का है जिस में बिना किसी भेद-भाव के सभी हिन्दुस्तानी सम्मिलित हो सकें। आप क़ुरान और गीता के भी अच्छे ज्ञाता हैं। परन्तु आप की विचारधारा राजनैतिक रंग को नहीं छोड़ सकी है।

आप की भाषा में उर्दू शब्दों का प्रायः प्रयोग होता है। 'जरूरत,' 'ग़लत', 'यानी', 'अलावा', 'शुरू', 'ज़ाहिर', 'ज्यादा' आदि प्रसिद्ध शब्दों के अतिरिक्त कहीं-कहीं दुरूह फ़ारसी-अर्बी के शब्दों को भी आप ने 'आम-फ़हम' समझ कर प्रयुक्त किया है। शायद यह उक्त नई संस्कृति के निर्माण की ओर एक क्रियात्मक पग है।

श्री चन्द्रमौलि शुक्ल एम० ए०, एल० टी० (जन्म—१८९२ ई०)

शुक्लजी बनारस के ट्रेनिंग कालेज में वाइस-प्रिंसिपल हैं। मनोविज्ञान आप का अपना विषय है जिसके आप विशेषज्ञ हैं। अध्यापन कार्य से सम्बन्ध रखने वाले 'बाल-मनोविज्ञान' पर आप ने हिन्दी में भी पुस्तकें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त 'निबन्ध' और 'रचना शास्त्र' पर भी आप ने लेखनी उठाई है।

आप की भाषा सरल है! उस में कृत्रिम सौन्दर्य के प्रयत्न का सर्वथा अभाव है। शब्दावली पारिभाषिक होने पर भी बोधगम्य है।

वाक्य छोटे-छोटे और सुनियंत्रित हैं। प्रतिपादन का ढंग ऐसा रोचक है कि जटिल और पारिभाषिक विषय को भी अनेक लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा ऐसा स्पष्ट कर देते हैं कि साधारण व्यक्ति भी सारे विषय को सहज ही में समझ जाता है। यह एक विशेष गुण है जो हिन्दी के पारिभाषिक लेखकों में बहुत कम मिलता है।

अपने विषय के पारङ्गत विद्वान् होने के कारण आप के निबन्ध विशेषज्ञ तथा साधारण पाठक दोनों के लिए ही उपयोगी हैं।

श्री ए. सी. बैनर्जी (जन्म—१८६२ ई०)

आप गणित (विज्ञान) के आचार्य हैं। यह सत्य है कि विज्ञान के विशेषज्ञों की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः अंग्रेज़ी भाषा ही रहा है, कारण कि हिन्दी में अभी वैज्ञानिक पदावली का कोई भी स्थिरीकरण नहीं हो पाया। श्री बैनर्जी का प्रकृत लेख भी मूल अंग्रेज़ी का हिन्दी अनुवाद है। इस में परमाणु-बम के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी पाठकों को मिलेगी।

परमाणु वाद भारतीय दर्शनों का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। नैयायिकों के मत में सारी सृष्टि परमाणुओं के संघात से बनी है। आज के वैज्ञानिक अनुसन्धान ने परमाणु का मूर्त एवं भौतिक स्वरूप हमारे सामने रख दिया है।

लेख की भाषा बोल-चाल की है। पारिभाषिक शब्दों में स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के ही प्रचलित शब्द ले लिये गये हैं। विषय का प्रतिपादन इतनी सरलता से किया गया है कि साधारण पाठक के लिए भी सारा विषय सुबोध हो गया है।

(उक्त लेख 'प्रोग्रेसिव क्लब' में दिये गये भाषण का भावानुवाद है। श्री चन्द्रिका प्रसाद जी ने हिन्दी पाठकों के लाभार्थ इसे हिन्दी रूप दिया है।)

श्री जगद्विहारी सेठ एम० ए० (कैम्ब्रिज), आई. ई. एस. (रिटायर्ड), (जन्म—१८६३ ई०)

आप प्रायः जे० बी० सेठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। हाँ हिन्दी लेखों में आप अपना पूरा नाम लिखते हैं। आप का अपना विषय 'भौतिक विज्ञान' है, पर हिन्दी से भी आप को गाढ़ अनुराग है। हिन्दी में लिखने की लट आप को बचपन से ही है। अपने अधिकृत विषय पर आपने बीसियों लेख 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में लिखे हैं।

प्रकृत लेख विशेषतया इसी पुस्तक के लिए लिखा गया है। इस में आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है और साथ ही भारतीय द्रव्यवाद के दार्शनिक सिद्धान्त को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्फुट करने का सफल प्रयत्न किया गया है।

भाषा का शृंगार न लेखक का ध्येय है और ना ही इस प्रकार के गम्भीर विषय के प्रतिपादन में उस की कोई आवश्यकता है। पारिभाषिक शब्दों के चुनाव में कड़ी यथार्थता पर पूरा ध्यान रखा गया है। वैज्ञानिक सूक्ष्म भाव-भङ्गियों को व्यक्त करने के लिए ठीक और उपयुक्त शब्द बरते गये हैं। वाक्य-विन्यास बहुधा अंग्रेज़ी ढंग पर चला है, परन्तु इस से न प्रवाह में कोई क्षति आई है और न अर्थ-व्यक्ति में कोई बाधा पड़ी है।

निःसन्देह यह लेख हिन्दी में अपने प्रकार का आप ही है जिस से पाठक के परिज्ञान की वृद्धि के साथ उसे चिन्तन और मनन का भी सुन्दर सुअवसर प्राप्त होगा।

महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन (जन्म—१८६३ ई०)

कहा जाता है कि—"लेख में लेखक का व्यक्तित्व लक्षित होता है।" यह बात राहुल जी के विषय में पूरी तरह से लागू होती है। संसार भर के भ्रमण और संसार भर की भाषाओं और साहित्यों के परिज्ञान तथा अवधूत जीवन ने राहुल जी के व्यक्तित्व को एक विशेष

दिशा में विकसित होने का सुअवसर दिया है जिस में मर्यादा, परम्परा रूढ़ि, बन्धन और नियमन का कोई स्थान नहीं; हाँ उसमें निर्ममता और स्वच्छन्दता कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता एवं ऐतिहासिक श्री काशी प्रसाद जायसवाल के संसर्ग ने आप में खोज-जाँच और काँट-छाँट की अद्भुत शक्ति उत्पन्न कर दी है। तत्त्व की गहराई तक पहुँचना और उसे ऐतिहासिक सत्य के रूप में निर्ममता से पेश करने की मनोवृत्ति आप की सभी रचनाओं में स्पष्ट दीख रही है। आप करेले को जैसे का तैसा– कड़वा और बे स्वाद–ही प्रस्तुत कर देते हैं, उस में नमक-मिरच लगा कर, उसे सँवार कर 'खाद्य' का रूप देना आप की प्रकृति से बाहिर है। जहां श्री जयशंकरप्रसाद जी ने वैदिक गाथाओं को अपूर्व साहित्यिक रूप देकर समाज के लिए 'शिव' और 'सुन्दर' बना दिया है, वहाँ राहुल जी ने उन्हें अपने नग्न रूप में ही उपस्थित करने में आनन्द का अनुभव किया है। 'वोल्गा से गङ्गा तक' और 'बाईसवीं सदी' आदि आप की ऐसी ही पुस्तकें हैं।

आप की विचारधारा सुलझी हुई और युक्ति-प्रमाण पुरःसर होती है। उस में भावुकता कहीं छू तक नहीं पाती। आप के लेखों में विचार-संदीपन का गुण पूर्ण रूप से मिलता है। हिन्दी के आप अनन्य भक्त और समर्थ सेवक हैं। आप की प्रतिभा बहुमुखी है। कहानी, उपन्यास, आलोचना, संपादन, इतिहास, अनुसन्धान, कोश-निर्माण, यात्रा, दर्शन आदि अनेक विषयों पर आपने खूब लिखा है और लिखा भी है विशेषज्ञ की मार्मिकता के साथ।

आप की शैली भी अपनी ही है। इस में भी आप किसी नियम या बन्धन को सहन नहीं करते। कहीं तो गूढ़ संस्कृतनिष्ठ पदावली चलती है और कहीं प्रचलित तत्सम शब्द को भी छोड़ कर तद्भव की ओर आप की प्रवृत्ति होती है। तद्भवों में भी आप कहीं-कहीं ('घुमक्कड़' आदि) बड़े विचित्र और रसीले रूपों का प्रयोग कर जाते हैं। कई बार आप का देशीय शब्दों का प्रयोग 'अखिल भारतीयत्व' को भी खो बैठता

है। उर्दू-फ़ारसी के शब्द तो आप बराबर प्रयोग में लाते हैं। आप का वाक्य-विन्यास शैथिल्य दोष से मुक्त नहीं है। हां, आप जो कहना चाहते हैं, उसे भाषा की परवाह किये बिना कह जाते हैं और बड़ी खूबी और ज़ोर से कह जाते हैं।

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड एम० ए०, एल० टी० (जन्म—१८९५ ई०)

आप अंग्रेजी और राजनीति के एम० ए० हैं और साथ ही एल० टी० भी। आप हिन्दी के प्रेमी और उत्कृष्ट लेखक हैं। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' के सदस्य और मंत्री भी रह चुके हैं।

हास्य रस आप का जन्मजात गुण है। प्रायः इसी रस के आप विशेषतया सिद्धहस्त लेखक हैं। अनेक हास्य-विनोद सम्बन्धी पत्रिकाओं का आप ने सम्पादन किया है और कई हास्य-प्रधान रसीली कविताएं भी लिख चुके हैं।

उच्च शिक्षा से सुपरिष्कृत एवं जन्म-जात हास्यगुण से सम्पन्न और इसी रस के विशेष लेखक श्री गौड़ जी ही हास्य रस का विश्लेषण करने के लिए नितान्त उपयुक्त व्यक्ति हैं। प्रकृत लेख में आप ने इस सम्बन्ध की अनेक मार्मिक बातों की चर्चा की है। भाषा साहित्यिक है और प्रतिपादन-शैली खूब रोचक एवं सरल है।

श्री आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, (जन्म—१८९६ ई०)

आचार्य जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं। विशेषतया वैदिक अनुसन्धान में आपको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। बौद्धिक प्रखरता आप की जन्म-जात सङ्गिनी है। आप विद्यार्थी जीवन में सदा सर्वप्रथम रहते रहे हैं। वैदिक विषयों पर अनेक पुस्तकों और लेखों के अतिरिक्त आप ने लौकिक गम्भीर विषयों पर भी उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। प्राचीन

वैदिक आदर्शों का अभिनव ढंग से युक्ति एवं तर्क-संमत समर्थन करना आप की विशेषता है।

प्रकृत लेख में आचार्य जी ने भौतिक जगत् में सर्वत्र आदृत 'विकासवाद' के अध्यात्म जगत् में भी किये जाने वाले प्रयोग की आलोचना की है। आप के विचार गंभीर चिन्तन की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। हो सकता है कि आज का वैज्ञानिक आप की सभी युक्तियों से सहमत न हो, तथापि यह अवश्य है कि विकास के साथ ह्रास को भी तथ्य के रूप में स्वीकार करने के लिए आचार्य जी ने विद्वानों के सम्मुख पुष्कल तथा गम्भीर मनन की समस्या उपस्थित की है।

भौतिक जगत् में भी विकास और ह्रास निरन्तर अबाध गति से चल रहे हैं। जहां प्राणियों के किन्हीं अङ्गों, प्रत्यङ्गों, गुणों, धर्मों और विशेष शक्तियों का क्रमशः विकास हो रहा है, वहां साथ ही अनेक अङ्ग-रचनाओं और शक्तियों का ह्रास भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ मानव-रचना में जहां हाथ, पैर, सिर और रीढ़ की रचना में विशेष विकास के दर्शन होते हैं, वहां पूंछ, दान्त, केस आदिक में ह्रास भी हुआ है। बन्दर जन्म से ही तैर सकता है, पर मानव का इस दिशा में ह्रास स्पष्ट है। कुत्ते और बन्दर की घ्राणशक्ति, एवं अन्य पशुओं की इतर इन्द्रिय-शक्तियां मानव में विकसित न हो कर ह्रसित हुई हैं। इन सब तथ्यों का समाधान यही प्रतीत होता है कि संसार में विकास के साथ ह्रास का भी क्रम बराबर चल रहा है।

आचार्य जी की भाषा शुद्ध और तत्समबहुला है। कहीं-कहीं आचार्य जी गम्भीर मीमांसन में भी काव्य की भाषा और सुदीर्घ रूपकावली का प्रयोग कर जाते हैं और लाक्षणिक पदावली में ही बहुत कुछ मर्म की बात कह जाते हैं।

श्री पं० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य
(जन्म—१८६६ ई०)

संस्कृत की विद्वत्ता और दार्शनिक बौद्धिक सज्जा ने उपाध्याय जी के लेखों में एक विशेषज्ञ की मार्मिकता भर दी है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में इसी विषय के अध्यापन कार्य के अनुभव ने आप की प्रतिपादन शैली में एक विशेष सजीवता, सरलता और प्रस्फुटता ला दी है। दर्शन जैसे शुष्क, नीरस, दुरूह एवं पारिभाषिक विषय को भी आप ऐसे सुगम ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि साधारण पाठक भी सब कुछ समझ जाता है। भाषा में संस्कृत-बहुलता स्वाभाविक है, हां, उस में कहीं क्लिष्टता या अस्पष्टता नहीं आने पाई।

भारत में चार्वाकों का एक अलग दर्शन था जो वैदिक आस्तिक-वाद को न मान कर शुद्ध तर्क और बुद्धि का आश्रय लेकर चला था। इसी कारण भारत के प्रसिद्ध छः आस्तिक दर्शनों में उसकी गणना नहीं की जाती। इन प्राचीन चार्वाकों के सिद्धान्त क्या थे और उन का आधार क्या था, इस बात की मार्मिक जानकारी निःसन्देह आज के बुद्धि-प्रधान युग में परम अपेक्षित है। इस से जहां दार्शनिक भावना के उत्थान और विकास के क्रम का एक स्पष्ट आलोक मिलेगा वहां पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन में भी यथेष्ट सुकरता प्राप्त होगी।

आस्तिक दर्शनों ने अपनी प्रखर युक्तियों के द्वारा चार्वाकों का ऐसा बीज नाश किया कि अब उनका कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। हां, दर्शनों में ही उन की युक्तियां पूर्वपक्ष के रूप में कहीं-कहीं उपलब्ध होती हैं। उपाध्याय जी ने उन के आधार पर इनके मत का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित किया है। चार्वाकों के सम्बन्ध में परिज्ञान का हिन्दी में सम्भवतः यह पहला लेख है जिस के लिए उपाध्याय जी दार्शनिक जगत् के धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण (जन्म—१६०२ ई०)

आप समाजवादी नेता के रूप में विख्यात हैं। १६२२ से १६२६ तक आठ वर्ष आप ने अमरीका की भिन्न-भिन्न पाँच यूनिवर्सिटियों में शिक्षा पाई है। वहां से लौटने पर आप १६३२ तक कांग्रेस के 'लेबर रिसर्च डिपार्टमैंट' में श्रमजीवी समस्या पर अनुसन्धान करते रहे। १६३४ में आप ने 'सोशलिस्ट पार्टी' की नींव डाली और तब से उसी के कार्यक्रम को चला रहे हैं।

विचारों में आप महात्मा गाँधी जी के आदर्शों के कट्टर भक्त नहीं हैं। इस संग्रह में 'समाजवाद और गान्धीवाद' पर ऐक लेख डा० पट्टाभि सीतारामैया का है जिस में भारत की मुक्ति के लिए गाँधी जी के विचारों पर आचरण करने का ही समर्थन किया गया है। पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए इसी विषय पर प्रकृत लेख श्री नारायण जी का दिया जा रहा है जिस से चित्र के दोनों पहलुओं पर प्रकाश पड़ सके और पाठक पक्ष-विपक्ष दोनों की युक्तियों को जान सकें।

नारायण जी के विचार गम्भीर परन्तु क्रान्तिकारी हैं। आप भारत के सामाजिक ढांचे को आमूलचूल बदल डालना चाहते हैं। उस में संशोधन मात्र से आप तृप्त नहीं। आपके भावों में जोश और तीव्रता है। कहीं-कहीं शिष्ट तीक्ष्णता भी आ गई है। भाषा आम बोल-चाल की है जिसमें प्रचलित उर्दू शब्दों के प्रयोग से भी सङ्कोच नहीं किया गया।

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार (जन्म—१६०४ ई०)

भारत की एकमात्र राष्ट्रीय संस्था—गुरुकुल कांगड़ी, जिसने भारत की परतंत्रता के युग में भी सर्वप्रथम हिन्दी के द्वारा स्वतंत्र उच्च शिक्षा देने की आयोजना की थी—के स्नातक श्री कृष्णचन्द्रजी ने प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता और ऐतिहासिक विद्वान् महामहोपाध्याय श्री पं० गौरी शङ्कर हीराचन्द ओझा जी से अनुसन्धान और गवेषणा की क्रियात्मक

शिक्षा प्राप्त करके अपनी बौद्धिक सज्जा को परिपूर्ण किया है। आप के लेखों में जहां विषय की मार्मिकता है, वहां तथ्यों की जाँच-पड़ताल और ऐतिहासिक समन्वय के अंश भी पुष्कल मात्रा में पाये जाते हैं। दिल्ली के 'वीर अर्जुन' के सम्पादन के कारण सम्पादकीय कला और निबन्धचातुरी के साथ-साथ शैली की रोचकता और भाषा का प्रवाह भी आप के लेखों में उल्लेखनीय है। राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर आप की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिन में भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम की गहरी प्रेरणा के अतिरिक्त ऐतिहासिक परिज्ञान और विचार-संदीपन की भी पर्याप्त सामग्री मिलती है।

प्रकृत लेख में प्रजातंत्र प्रणाली के क्रमिक विकास एवं आधारभूत सिद्धान्तों का मार्मिक एवं प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

श्री कुँवर सुरेशसिंह (जन्म—१९१० ई०)

कुँवर जी का सम्बन्ध एक ऐसे राज-घराने से है जो राजनैतिक और साहित्यिक सेवाओं के लिए प्रसिद्ध है। आप स्वयं भी राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने के कारण कई बार जेल-यात्रा कर चुके हैं और नज़रबन्द भी रह चुके हैं।

हिन्दी में 'जीव-विज्ञान' पर लिखने वाले शायद आप पहले लेखक हैं जो सुनी-सुनाई और समाहृत बातों को न लिख कर विषयज्ञ की लेखनी से लिखते हैं। 'हमारी चिड़ियाँ', 'हमारे जानवर', 'जीवों की कहानी' 'चिड़िया घर' आदि आप ने जीव-विज्ञान पर अनेक बालोपयोगी पुस्तकें लिखी हैं जिन की शैली सरल एवं अपारिभाषिक होने पर भी विषय का प्रतिपादन शुद्ध वैज्ञानिक और मार्मिक है।

'जन्तुविज्ञान' जैसे दुरूह विषय को ऐसी सरल एवं रोचक भाषा में इतनी सफलता से कह डालना कुँवरजी के लिए निःसन्देह बधाई की बात है।

डाक्टर देवराज एम० ए०, पी-एच० डी०

आप पश्चिमी दर्शन के गम्भीर विद्यार्थी हैं और तुलनात्मक अध्ययन के लिए पूर्वी–भारतीय– दर्शन का भी आप ने आलोडन किया है। पारिभाषिक विषयों के अंग्रेज़ी के विद्वान् हिन्दी में बहुत कम लिखते हैं। यह सौभाग्य की बात है कि वर्तमान युग में मर्मज्ञ विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है। इस संग्रह में श्री गुलाबराय जी का पाश्चात्य 'विकासवाद' और श्री बलदेव उपाध्याय जी का भारतीय 'चार्वाक दर्शन' और डाक्टर देवराज का प्रकृत लेख—पाश्चात्य और पौरस्त्य दर्शनभावना का समन्वय—आशा है, हिन्दी के पाठकों में दार्शनिक अभिरुचि की संतृप्ति करने में सहायक होंगे।

बुद्धि के दार्शनिक तत्त्रण के बिना मनुष्य में न तर्कशक्ति विकसित होती है, न खरे-खोटे की पहचान के लिए उपयोगी पैनी दृष्टि उस में आती है। इस के बिना मनुष्य 'सहज विश्वासिया या 'अन्धविश्वासिया' बना रहता है। दर्शनज्ञान को सभी विद्याओं और कलाओं का प्रदीप (टार्च) माना गया है जिस से बुद्धि निशित होकर सूक्ष्मदर्शी बनती है।

डाक्टर जी की भाषा विषयानुरूप पारिभाषिकता को लेकर चली है और अतएव कहीं-कहीं क्लिष्टता के छोर को छू गई है। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में हिन्दी की 'गति-विधि' की कम परवाह करके प्रायः अंग्रेज़ी मूल-शब्द की भाव-भङ्गी और संकेतचित्र का ही अनुवाद कर दिया है। उदाहरणार्थ 'मूल्य' 'मूल्यजगत्' 'अनुभवजगत्', 'घटनाजगत्' आदि शब्दों के जो ध्येय डाक्टर जी को अभिप्रेत हैं, शायद उन तक अभी हिन्दी के साधारण पाठक न पहुँच पावें।

कहना न होगा कि लेख गम्भीर मनन की संदीप्ति करता है और उसकी भाषा प्रौढ़ एवं प्राञ्जल होकर नई भाव-भङ्गी की जन्मदात्री बन गई है।

श्री भगवानदास अवस्थी एम० ए०

अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में हिन्दी में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उसके पारिभाषिक विषयों पर भी हिन्दी में पुस्तकें निकल चुकी हैं। श्री अवस्थीजी का प्रकृत लेख अर्थशास्त्र की साधारण रूप-रेखा और उस के आधारभूत सिद्धान्तों का अच्छा दिग्दर्शन कराता है।

आप की भाषा चलती बोल-चाल की है जिस में आवश्यकता के अनुसार हर प्रकार के उपयोगी शब्दों का यथास्थान समाहार किया गया है। इस से आप का लेख पारिभाषिक काठिन्य से बच गया है। अवस्थी जी की शैली है तो बहुत सरल, पर उस में आवश्यकता से अधिक पुनरुक्ति पाई जाती है। एक ही भाव को—और कहीं-कहीं समान पदावली को भी— बहुत बार दोहराया गया है। उदाहरण के लिए "प्रत्येक सिद्धान्त एक खास परिस्थिति में ही लागू हो सकता है"—इस बात को समझाने के लिए 'भाव और शब्द' दोनों की इतनी पुनरुक्ति है कि पाठक ऊब जाता है। निःसन्देह साधारण पाठक तो इस से पूर्ण लाभ उठा सकता है, परन्तु इस से रचना के साहित्यिक मूल्य में अवश्य क्षति आ पड़ती है। विषय-बोध की दृष्टि से मौखिक निरूपण में यह शैली ठीक पड़ती है, परन्तु लेखबद्ध रचना में इस का प्रयोग निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

डाक्टर रामरत्न भटनागर एम० ए०, पी-एच० डी०

आप अंग्रेज़ी के एम० ए० और अध्यापक होने पर भी हिन्दी में लिखते हैं। आप ने अभी हाल में हिन्दी के कवियों और कलाकारों के जो अध्ययन एवं आलोचनाएँ लिखी हैं, उन से हिन्दी-साहित्य की गरिमा में वान्छनीय वृद्धि हुई है। उच्च कक्षाओं में अब हिन्दी को स्थान मिल रहा है और उस के लिए भटनागर जी की पुस्तकें चिरकाल से खटकने वाले अभाव की पूर्ति कर रही हैं। अधिकतया समा-

हारात्मक होते हुए भी आप की आलोचनाएँ मौलिकता के अंशों से सर्वथा खाली नहीं हैं।

आप का प्रकृत लेख गहरे विचार और चिन्तन के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। विज्ञानवाद के प्रबल प्रवाह में अन्धाधुन्ध बह जाने वाले आज के बुद्धिवादी मानव को ज़रा ठहर कर–संभल कर–सोचना होगा कि उस का ध्येय क्या है और क्या विज्ञानवाद उसे स्थायी शान्ति और 'दुःख से मुक्ति' दे सकता है?

आप की भाषा और शैली यथार्थ में साहित्यिक है। इसमें भाषा के कृत्रिम शृंगार और उच्छृंखल उछल-कूद को स्थान नहीं दिया गया। विषय-गाम्भीर्य के अनुसार उसे संयत और शिष्ट बना कर रखा गया है।

श्री राजेन्द्र एम० ए० (जन्म—१६१८ ई०)

आप हिन्दी के उदीयमान एवं प्रगतिशील लेखक हैं। लेखक से 'शब्द-चित्रकार' आप अधिक हैं। शब्दों की तूलिका से जब आप रेखा-चित्र खींचते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल कलाकार ने लेखनी के कैमरे से फ़ोटो उतार कर रख दी है।

विचारों में आप राष्ट्रवादी हैं, पर प्रगतिशील राष्ट्रवादी—कुछ २ समाजवाद और साम्यवाद का भी प्रभाव लिये हुए। प्रारम्भ में आप ने गाँधी जी के आश्रम में भी निवास किया है और राष्ट्रीय संग्राम में जेल-यात्रा भी की है। इन सब के फलस्वरूप आप की साहित्यिक रुचि सुपरिष्कृत हो गई है। आप ने अनेक कहानियां और रेखा-चित्र लिखे हैं। प्रधानतया आप पत्रकार हैं। उर्दू 'हरिजन' और अंग्रेज़ी 'ट्रिब्यून' के सम्पादन विभाग में कार्य करने के उपरान्त आज कल आप पंजाब सरकार द्वारा प्रकाशित हिन्दी 'प्रदीप' के सम्पादक हैं।

प्रकृत लेख आप ने पत्रकारिता पर लिखा है जिस में इस कला के प्रायः सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों और भाग-विभागों का सुन्दर दिग्दर्शन मिलता है।

आप की भाषा में प्रवाह और भावों में जोश तथा क्रान्ति है। भाषा में कहीं-कहीं शैथिल्य और कृत्रिमता स्पष्ट दीखती है, पर इससे उस के प्रवाह की तीव्रता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। निकट भविष्य में निरन्तर अभ्यास के द्वारा भाषा पर कुछ और अधिक अधिकार हो जाने पर आप हिन्दी के अच्छे लेखकों की पंक्ति में गणना प्राप्त कर सकेंगे।

—:o:—